

Chapter इकतीस

जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।

स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; कर्मणा—कर्मफल के द्वारा; दैव-नेत्रेण—भगवान् की अध्यक्षता में; जन्तुः—जीव; देह—शरीर; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए; स्त्रियाः—स्त्री के; प्रविष्टः—प्रवेश करता है; उदरम्—गर्भ में; पुंसः—पुरुष के; रेतः—वीर्य का; कण—सूक्ष्म भाग; आश्रयः—रहते हुए।

भगवान् ने कहा : परमेश्वर की अध्यक्षता में तथा अपने कर्मफल के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर धारण करने के लिए जीव (आत्मा) को पुरुष के वीर्यकण के रूप में स्त्री के गर्भ में प्रवेश करना होता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, नाना प्रकार की नारकीय स्थितियों को भोगने के बाद जीव पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है। इस अध्याय में उसी प्रसंग को आगे बढ़ाया गया है। किसी व्यक्ति को जिसने पहले नारकीय जीवन बिताया है, मनुष्य का स्वरूप देने के लिए, आत्मा को पहले पुरुष के वीर्य में स्थानान्तरित किया जाता है, जो उसका पिता बनने के लिए उपयुक्त हो। संभोग के समय पिता के वीर्य से यह आत्मा माता के गर्भ में स्थानान्तरित हो जाता है, जिससे विशेष प्रकार का शरीर उत्पन्न होता है। यह विधि समस्त प्राणियों पर लागू होती है, किन्तु यहाँ पर उस मनुष्य के लिए विशेष रूप से वर्णित है, जो अन्धतामिस्र में चला गया हो। वहाँ पर कष्ट भोगने के बाद, जब वह कुत्ता तथा शूकर जैसे अनेक शरीर धारण कर चुकता है, तो पुनः मनुष्य का स्वरूप प्राप्त करने के लिए उसे उसी प्रकार का शरीर धारण करने का अवसर दिया जाता है, जिसमें वह नरक में जा पड़ा था।

यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में होता है। प्रकृति शरीर प्रदान करती है, किन्तु परमात्मा के निर्देशन में। भगवद्गीता में कहा गया है कि जीव इस जगत में प्रकृति द्वारा निर्मित

रथ पर चढ़कर घूमता है। परम पुरुष, परमात्मा रूप में व्यष्टि आत्मा के साथ सदैव उपस्थित रहते हैं। वह प्रत्येक आत्मा को उसके कर्मफल के अनुसार शरीर प्रदान करने के लिए प्रकृति को निर्देश देता है, जिसे प्रकृति करती है। यहाँ पर रेतःकणाश्रय शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि मनुष्य के वीर्य से स्त्री के गर्भ में जीवन उत्पन्न नहीं होता, अपितु जीव या आत्मा वीर्यकण का आश्रय लेकर स्त्री के गर्भ में जाता है, तभी शरीर विकसित होता है। आत्मा की अनुपस्थिति में मात्र संभोग से, जीव के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह भौतिकतावादी सिद्धान्त लागू नहीं होता कि आत्मा नहीं है और शिशु का जन्म केवल शुक्राणु तथा रज के संयोग से होता है। यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्धदम् ।

दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कललम्—शुक्राणु तथा रज का मिश्रण; तु—तब; एक-रात्रेण—पहली रात में; पञ्च-रात्रेण—पाँचवी रात तक; बुद्धदम्—बुलबुला; दश-अहेन—दस दिनों में; तु—तब; कर्कन्धूः—बेर के बराबर; पेशी—मांस का लोथड़ा; अण्डम्—अंडा; वा—अथवा; ततः—उससे; परम्—बाद में।

पहली रात में शुक्राणु तथा रज मिलते हैं और पाँचवी रात में यह मिश्रण बुलबुले का रूप धारण कर लेता है। दसवीं रात्रि को यह बढ़कर बेर जैसा हो जाता है और उसके बाद धीरे-धीरे यह मांस के पिण्ड या अंडे में परिवर्तित हो जाता है।

तात्पर्य : अपने आत्मा का शरीर विभिन्न स्रोतों के अनुसार चार प्रकार से विकसित होता है। एक प्रकार का शरीर पौधों का है, जो पृथ्वी से फूटता है; दूसरे प्रकार का शरीर पसीने (श्वेद) से उत्पन्न होता है यथा मक्खी, कीड़े तथा खटमल; तीसरे प्रकार का शरीर अण्डे से विकसित होता है और चौथे प्रकार का शरीर भ्रूण से उत्पन्न होता है। इस श्लोक से सूचित होता है कि शुक्राणु तथा रज के मिलने के पश्चात् धीरे-धीरे शरीर मांस के पिंड में या अंडे में विकसित होता है। पक्षियों में अंडा बनता है और पशुओं तथा मनुष्यों में मांस का पिंड बनता है।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्ग्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मासेन—एक मास के भीतर; तु—तब; शिरः—सिर; द्वाभ्याम्—दो महीने में; बाहु—हाथ; अङ्घ्रि—पैर; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के अवयव; विग्रहः—स्वरूप; नख—नाखून; लोम—रोएँ; अस्थि—हड्डियाँ; चर्माणि—तथा चमड़ी; लिङ्ग—शिश्न; छिद्र—छेद; उद्भवः—प्राकट्य; त्रिभिः—तीन मास में।

एक महीने के भीतर सिर बन जाता है और दो महीने के अन्त में हाथ, पाँव तथा अन्य अंग आकार पाते हैं। तीसरे मास के अन्त तक नाखून, अँगुलियाँ, अँगूठे, रोएँ, हड्डियाँ तथा चमड़ी प्रकट हो आती हैं और इसी तरह जननेन्द्रिय तथा आँखें, नथुने, कान, मुँह तथा गुदा जैसे छिद्र भी प्रकट होते हैं।

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चतुर्भिः—चार महीने के भीतर; धातवः—अवयव; सप्त—सात; पञ्चभिः—पाँच महीने के भीतर; क्षुत्-तृट्—भूख तथा प्यास के; उद्भवः—प्राकट्य; षड्भिः—छह मास के भीतर; जरायुणा—झिल्ली से; वीतः—घिर कर; कुक्षौ—उदर में; भ्राम्यति—चलता है; दक्षिणे—दाहिनी ओर।

गर्भधारण के चार महीने के भीतर शरीर के सात मुख्य अवयव उत्पन्न हो जाते हैं। इनके नाम हैं—रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा तथा वीर्य। पाँच महीने में भूख तथा प्यास लगने लगती है और छह मास के अन्त तक झिल्ली (जरायु) के भीतर बन्द गर्भ (भ्रूण) उदर के दाहिनी भाग में चलने लगता है।

तात्पर्य : छह मास के अन्त तक शिशु का शरीर पूरी तरह बन जाता है और यदि वह (भ्रूण) नर हुआ तो दाहिनी ओर चलता है, किन्तु मादा होने पर बाईं ओर चलता है।

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्वातुरसम्भते ।
शेते विण्मूत्रयोगर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता का; जग्ध—ग्रहण किया गया; अन्न-पान—भोजन तथा पेय पदार्थ, खाना-पीना; आद्यैः—इत्यादि से; एधत्—बढ़ते हुए; धातुः—शरीर के अवयव; असम्भते—गर्हित, घृणित; शेते—रहा आता है; विट्-मूत्रयोः—मल-मूत्र के; गर्ते—गड्ढे में; सः—वह; जन्तुः—भ्रूण; जन्तु—कीड़ों के; सम्भवे—पोषण-स्थल में।

माता द्वारा ग्रहण किये गये भोजन तथा जल से पोषण प्राप्त करके भ्रूण बढ़ता है

और मल-मूत्र के घृणित स्थान में, जो सभी प्रकार के कीटाणुओं के उपजने का स्थान है, रहा आता है।

तात्पर्य : मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि आप्यायनी अर्थात् नाल बच्चे को माता की आँत से जोड़ती है और इसी मार्ग से माता द्वारा पचाया गया भोजन शिशु को जाता है। इस प्रकार गर्भ के भीतर शिशु अपनी माता की आँत के माध्यम से पोषित होता है और नित्यप्रति बढ़ता रहता है। मार्कण्डेय पुराण के कथन की पुष्टि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा होती है, अतः पुराणों के प्रमाण को काटा नहीं जा सकता, जैसाकि कभी-कभी मायावादी चिन्तक करते हैं।

चूँकि शिशु माता द्वारा स्वांगीकृत भोज्य पदार्थ पर पूर्णतया निर्भर रहता है, अतः गर्भावस्था में माता द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन पर प्रतिबन्धन रहते हैं। गर्भिणी माँ को अधिक नमक, मिर्च, प्याज आदि खाने की मनाही रहती है, क्योंकि शिशु का शरीर अत्यन्त कोमल होता है और इस तरह की तिक्त वस्तुएँ सहन नहीं कर सकता। स्मृति शास्त्रों में निर्दिष्ट गर्भिणी माता द्वारा करणीय तथा निषेध अत्यन्त उपयोगी हैं। हमें वैदिक साहित्य से पता चलता है कि समाज में उत्तम शिशु उत्पन्न करने की ओर कितना ध्यान दिया जाता था। समाज के उच्च वर्णों में प्रसंग के पूर्व गर्भाधान उत्सव का विशेष महत्त्व था और यह वैज्ञानिक भी है। गर्भावस्था के समय वैदिक साहित्य में संस्तुत अन्य विधियाँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शिशु की देखभाल करना माता-पिता का प्रमुख कर्तव्य है, क्योंकि इससे समाज ऐसे लोगों से पूर्ण हो सकेगा जिससे समाज, देश तथा मानव-जाति के लिए शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकती है।

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।

मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कृमिभिः—कीड़ों द्वारा; क्षत—काटे जाने पर; सर्व-अङ्गः—पूरे शरीर में; सौकुमार्यात्—सुकुमार होने के कारण; प्रति-क्षणम्—क्षण-क्षण; मूर्च्छाम्—अचेत अवस्था को; आप्नोति—प्राप्त करता है; उरु-क्लेशः—महान् कष्ट; तत्रत्यैः—वहाँ (उदर में) रहकर; क्षुधितैः—भूख से; मुहुः—पुनः पुनः।

उदर में भूखे कीड़ों द्वारा शरीर भर में बारम्बार काटे जाने पर शिशु को अपनी

सुकुमारता के कारण अत्यधिक पीड़ा होती है। इस भयावह स्थिति के कारण वह क्षण-क्षण अचेत होता रहता है।

तात्पर्य : इस संसार की कष्टप्रद स्थिति का अनुभव हमें माता के गर्भ से बाहर निकलने पर ही नहीं, अपितु गर्भ में रहते हुए भी होता है। यह कष्टप्रद जीवन उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब जीव शरीर से सम्पर्क स्थापित करता है। दुर्भाग्यवश हम इस अनुभव को भूल जाते हैं और जन्म के कष्टों पर गम्भीरता से विचार नहीं करते। अतः *भगवद्गीता* में विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु की कठिनाइयों को समझने के प्रति सचेत रहना चाहिए। जिस प्रकार शरीर-निर्माण के समय हमें माता के गर्भ में अनेक कष्ट सहन करने होते हैं उसी प्रकार मृत्यु के समय भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसाकि पिछले अध्याय में बताया गया है, मनुष्य को एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करना होता है और जब कुत्तों तथा सुअरों के शरीर में यह अन्तरण होता है, तो विशेष कष्ट होता है। किन्तु ऐसी कष्टप्रद स्थितियों के होते हुए हम माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाते हैं और वर्तमान तथाकथित सुख द्वारा आकृष्ट होते हैं, जो कष्ट की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।

मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कटु—कड़वा; तीक्ष्ण—तीता; उष्ण—गरम; लवण—नमकीन; रूक्ष—सूखा; अम्ल—खट्टा; आदिभिः—इत्यादि से; उल्बणैः—अत्यधिक; मातृ-भुक्तैः—माता द्वारा खाये गये भोजन से; उपस्पृष्टः—प्रभावित; सर्व-अङ्ग—सारे शरीर में; उत्थित—उत्पन्न हुआ; वेदनः—दर्द, पीड़ा।

माता के खाये कड़वे, तीखे, अत्यधिक नमकीन या खट्टे भोजन के कारण शिशु के शरीर में निरन्तर पीड़ा रहती है, जो प्रायः असह्य होती है।

तात्पर्य : माता के गर्भ में स्थित शिशु की शारीरिक अवस्था का पूरा वर्णन कर पाना असम्भव है। ऐसी स्थिति में रहना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु फिर भी शिशु को उसी में रहना ही पड़ता है। चेतना का ठीक से विकास न होने के कारण शिशु इसे सहन करता है अन्यथा वह मर जाय। यह माया का आशीर्वाद है, जो कष्ट सहने वाले शरीर को ऐसी भीषण

यातनाएँ सहने की शक्ति प्रदान करता है।

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्ननैश्च बहिरावृतः ।

आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उल्बेन—झिल्ली से; संवृतः—लिपटा हुआ; तस्मिन्—उस स्थान पर; अनैः—आँतों से; च—तथा; बहिः—बाहर;
आवृतः—घिरा हुआ, ढका; आस्ते—लेटा रहता है; कृत्वा—रखा जाकर; शिरः—सिर; कुक्षौ—पेट की ओर;
भुग्न—झुका हुआ; पृष्ठ—पीठ; शिरः-धरः—गर्दन।

झिल्ली से लिपटा और बाहर से आँतों द्वारा ढका (घिरा) हुआ शिशु उदर में एक ओर पड़ा रहता है। उसका सिर उसके पेट की ओर मुड़ा हुआ रहता है और उसकी कमर तथा गर्दन धनुषाकार में मुड़े रहते हैं।

तात्पर्य : यदि किसी बड़े मनुष्य को उस अवस्था में रखा जाय जिसमें एक शिशु उदर के भीतर सभी प्रकार से फँसा हुआ रहता है, तो उसके लिए कुछ क्षण भी जीवित रहना दूभर हो जाय। दुर्भाग्यवश हमें ये सारे कष्ट याद नहीं रहते हैं और हम इस जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करते हैं। हम जन्म-मृत्यु के पाश से आत्मा को मुक्त करने की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यह हमारी सभ्यता का दुर्भाग्य है कि ये बातें ठीक से समझायी नहीं जातीं जिससे लोग संसार की नाजुक स्थिति को समझ सकें।

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।

स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अकल्पः—अशक्त; स्व-अङ्ग—अपने अंग; चेष्टायाम्—हिलाने-डुलाने के लिए; शकुन्तः—पक्षी; इव—सदृश;
पञ्जरे—पिंजड़े में; तत्र—वहाँ; लब्ध-स्मृतिः—स्मृति को प्राप्त करके; दैवात्—भाग्यवश; कर्म—कर्म; जन्म-शत-
उद्भवम्—पिछले सौ जन्मों में घटित होने वाले; स्मरन्—याद करके; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; अनुच्छ्वासम्—आहें
भरना; शर्म—मन को शान्ति; किम्—क्या; नाम—तब; विन्दते—प्राप्त कर सकता है।

इस तरह शिशु पिंजड़े के पक्षी के समान बिना हिले-डुले रह रहा होता है। उस समय, यदि शिशु भाग्यवान हुआ, तो उसे विगत सौ जन्मों के कष्ट स्मरण हो आते हैं और वह दुख से आहें भरता है। भला ऐसी दशा में मनःशान्ति कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : जन्म के बाद शिशु भले ही विगत जीवन के कष्टों को भूल जाय, किन्तु जब हम बड़े हो जाते हैं तब *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों को पढ़कर इतना तो समझ ही सकते हैं कि जन्म तथा मृत्यु के समय कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। यदि शास्त्रों में हमारा विश्वास नहीं है, तो अलग बात है, किन्तु यदि ऐसे शास्त्रों के प्रमाण पर हमारा विश्वास है, तो हमें अगले जन्म में इससे मुक्त होने की तैयारी करनी चाहिए। ऐसा इसी मनुष्य जीवन में सम्भव है। जो इन संकेतों की परवाह नहीं करता वह आत्मघात करता है। कहा गया है कि मनुष्य-जीवन ही माया के अन्धकार को या भवसागर को पार करने का एकमात्र साधन है। हमारे पास यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त सक्षम नाव के समान है और गुरु ही इसका अत्यन्त दक्ष कप्तान है, शास्त्रीय आदेश अनुकूल हवाओं के समान है। यदि इन सारी सुविधाओं के रहते हुए भी हम अज्ञान के सागर को पार नहीं कर पाते तो हम जानबूझ कर आत्मघात कर रहे होते हैं।

आरभ्य सप्तमात्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः ।

नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आरभ्य—प्रारम्भ होने पर; सप्तमात् मासात्—सातवें महीने से; लब्ध-बोधः—चेतना प्राप्त; अपि—यद्यपि; वेपितः—हिलता डुलता; न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; आस्ते—रहा आता है; सूति-वातैः—शिशु जन्म के लिए हवाओं (प्रसूति वायु) द्वारा; विष्ठा-भूः—क्रीड़ा; इव—सदृश; स-उदरः—उसी गर्भ से उत्पन्न।

इस प्रकार गर्भाधान के पश्चात् सातवें मास से चेतना विकसित होने पर यह शिशु उन हवाओं के द्वारा चलायमान रहता है, जो भ्रूण को प्रसव के कुछ सप्ताह पूर्व से दबाती रहती हैं। वह उसी पेट की गन्दगी से उत्पन्न कीड़ों के समान एक स्थान में नहीं रह सकता।

तात्पर्य : सातवें मास के बाद शिशु शारीरिक वायु से हिलने-डुलने लगता है, एक ही स्थान पर नहीं रहा आता, क्योंकि प्रसव के पूर्व सारा योनि-तंत्र शिथिल पड़ जाता है। यहाँ पर कीड़ों को *सोदर* कहा गया है। *सोदर* का वास्तविक अर्थ है “एक ही माता से उत्पन्न।” चूँकि शिशु माता के गर्भ से उत्पन्न होता है और कीड़े भी उसी माँ के गर्भ के भीतर सड़न से उत्पन्न

होते हैं, अतः शिशु तथा कीड़े वास्तव में भाई-भाई हैं। हम मनुष्यों में भ्रातृत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु हमें कीड़ों को भी अपना भाई मानना चाहिए, अन्य प्राणियों की तो बात ही और है। अतः हमें समस्त प्राणियों के प्रति चिन्तित रहना चाहिए।

नाथमान ऋषिभीतः सप्तवधिः कृताञ्जलिः ।

स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नाथमानः—याचना करता हुआ; ऋषिः—जीव; भीतः—डरा हुआ; सप्त-वधिः—सात आवरणों से बँधा; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; स्तुवीत—प्रार्थना करता है; तम्—भगवान् को; विक्लवया—विकल होकर; वाचा—शब्दों से; येन—जिसके द्वारा; उदरे—गर्भ में; अर्पितः—स्थापित किया गया था।

इस भयभीत अवस्था में, भौतिक अवयवों के सात आवरणों से बँधा हुआ जीव हाथ जोड़कर भगवान् से याचना करता है जिन्होंने उसे इस स्थिति में ला रखा है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब स्त्री को प्रसव पीड़ा से गुजरना पड़ता है, तो वह प्रतिज्ञा करती है कि अब वह फिर से गर्भ धारण नहीं करेगी और ऐसा कष्ट फिर नहीं उठावेगी। इसी तरह से जब किसी का अस्पताल में आपरेशन होता है, तो रोगी प्रतिज्ञा करता है कि अब वह ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे वह बीमार पड़े और उसे फिर आपरेशन कराना पड़े। या जब कोई व्यक्ति संकट में होता है, तो वह प्रतिज्ञा करता है कि वह पुनः ऐसी भूल नहीं करेगा जिससे संकट में पड़े। इसी तरह जब जीव नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह पुनः पापकर्म नहीं करेगा जिससे वह माँ के गर्भ में जाकर जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े। गर्भ के भीतर की नारकीय अवस्था में जीव पुनः जन्म लेने से भयभीत रहता है, किन्तु जब वह गर्भ से बाहर आ जाता है, जब वह अपनी पूरी जवानी में और स्वस्थ होता है, तो वह सब कुछ भूल जाता है और पुनः पुनः वही पाप करता है जिनके लिए उसे इस भयावह स्थिति में रखा गया था।

जन्तुरुवाच

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-

नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।

सोऽहं ब्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्शयसतो नुरूपा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जन्तुः उवाच—जीव कहता है; तस्य—भगवान् का; उपसन्नम्—रक्षा के लिए पास आने पर; अवितुम्—रक्षा के लिए; जगत्—ब्रह्माण्ड; इच्छया—स्वेच्छा से; आत्त-नाना-तनोः—जो विभिन्न स्वरूपों को स्वीकार करता है; भुवि—पृथ्वी पर; चलत्—चलते हुए; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; सः अहम्—मैं स्वयं; ब्रजामि—जाता हूँ; शरणम्—शरण में; हि—निस्सन्देह; अकुतः—भयम्—निर्भय बनाने; मे—मुझको; येन—जिससे; ईदृशी—ऐसी; गतिः—जीवन दशा; अदर्शि—मानी जाती थी; असतः—अपवित्र; अनुरूपा—उपयुक्त।

जीव कहता है : मैं उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जो अपने विभिन्न नित्य स्वरूपों में प्रकट होते हैं और इस भूतल पर घूमते रहते हैं। मैं उन्हीं की शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि वे ही मुझे निर्भय कर सकते हैं और उन्हीं से मुझे यह जीवन-अवस्था प्राप्त हुई है, जो मेरे अपवित्र कार्यों के सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : चलच्चरणारविन्दम् शब्द भगवान् का सूचक है, जो पृथ्वी पर चलते या भ्रमण करते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् रामचन्द्र पृथ्वी पर चले और भगवान् कृष्ण भी सामान्य मनुष्य की भाँति घूमते फिरते थे। अतः यह प्रार्थना उन भगवान् से की जाती है, जो इस पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग पर साधुओं की रक्षा करने तथा असाधुओं को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि हुई है कि जब-जब धर्म का हास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है, तो भगवान् सत्पुरुषों की रक्षा करने और असाधुओं को मारने के लिए अवतरित होते हैं। इस श्लोक से भगवान् कृष्ण का संकेत मिलता है।

इस श्लोक की अन्य विशेषता है कि भगवान् इच्छया अर्थात् स्वेच्छा से आते हैं। जैसाकि भगवद्गीता से पुष्टि होती है—सम्भवाम्यात्ममायया—“मैं अपनी इच्छा से, अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।” वे प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर नहीं आते। यहाँ पर इच्छया कहा गया है : वे कोई स्वरूप धारण नहीं करते जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से आते हैं, अतः वे जिस रूप में अवतरित होते हैं वह सनातन रूप है। जिस तरह परमेश्वर जीव को भयावह स्थिति में डालता है, उसी तरह वह उसका उद्धार भी करता है, अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के चरणकमलों की ही शरण में जाय। कृष्ण चाहते हैं, “प्रत्येक वस्तु को त्यागो और मेरी शरण में आओ।” भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि जो उनके

पास चला जाता है, वह इस संसार में पुनः शरीर धारण करने नहीं आता, अपितु भगवान् के धाम जाता है जहाँ से कभी नहीं लौटता।

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा

भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।

आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-

मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—भी; अत्र—यहाँ; बद्धः—बँधा हुआ; इव—मानो; कर्मभिः—कार्यों से; आवृत—आच्छादित;
आत्मा—शुद्ध आत्मा; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशय—मन; मयीम्—से युक्त; अवलम्ब्य—गिरकर;
मायाम्—माया में; आस्ते—रहता है; विशुद्धम्—पूर्णतया शुद्ध; अविकारम्—परिवर्तन-रहित; अखण्ड-बोधम्—
अनन्त ज्ञान से युक्त; आतप्यमान—संतप्त; हृदये—हृदय में; अवसितम्—रहते हुए; नमामि—नमस्कार करता हूँ।

मैं विशुद्ध आत्मा अपने कर्म के द्वारा बँधा हुआ, माया की व्यवस्थावश इस समय अपनी माता के गर्भ में पड़ा हुआ हूँ। मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो यहाँ मेरे साथ हैं, किन्तु जो अप्रभावित हैं और अपरिवर्तनशील हैं। वे असीम हैं, किन्तु संतप्त हृदय में देखे जाते हैं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में आया है कि जीवात्मा कहता है, “मैं परमेश्वर की शरण ग्रहण करता हूँ।” फलतः स्वाभाविक रूप से जीवात्मा परमात्मा का आश्रित सेवक है। परमात्मा तथा जीवात्मा एक ही शरीर में बैठे हैं, जैसाकि उपनिषदों का कथन है। वे मित्र के रूप में बैठे हैं—एक तो कष्ट भोग रहा है और दूसरा कष्टों से सर्वथा विलग है।

इस श्लोक में विशुद्धम् अविकारम् अखण्ड-बोधम् आया है, जिसका अर्थ है कि परमात्मा समस्त कल्मष से सदैव दूर रहता है। शरीर होने के कारण जीव कल्मषग्रस्त है और कष्ट उठाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् भी उसके साथ है, इसलिए भगवान् के भी भौतिक शरीर है। वे अविकारम् अर्थात् परिवर्तनरहित हैं। वे सदैव एक से रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश मायावादी चिन्तक अपने अशुद्ध हृदयों के कारण नहीं जान पाते कि परमात्मा व्यष्टि आत्मा से भिन्न है। यहाँ पर कहा गया है कि आतप्यमानहृदयेऽवसितम्—वे प्रत्येक जीव के हृदय में हैं, किन्तु वे केवल संतप्त आत्मा द्वारा ही अनुभवगम्य हैं। व्यष्टि आत्मा संतप्त

रहता है कि उसने अपनी स्वाभाविक स्थिति भुला दी, परमात्मा से तदाकार होना चाहा तथा प्रकृति पर अधिकार जताने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही उसे परमात्मा का दर्शन होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि अनेकानेक जन्मों के बाद बद्धजीव को यह ज्ञान होता है कि वासुदेव महान् हैं, वही स्वामी हैं, वही भगवान् हैं। व्यष्टि आत्मा सेवक है, अतः वह भगवान् की शरण जाता है। उस समय वह महात्मा या महान् आत्मा हो जाता है। अतः ऐसा भाग्यवान् जीव जो अपनी माता के गर्भ में ही ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी मुक्ति निश्चित है।

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे

छन्नोऽयथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।

तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं

वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-भूत—पाँच स्थूल तत्त्व से; रचिते—निर्मित; रहितः—पृथक्; शरीरे—भौतिक शरीर में; छन्नः—आवृत; अयथा—अनुपयुक्त; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अर्थ—विषय; चित्—गर्व; आत्मकः—से युक्त; अहम्—मैं; तेन—शरीर द्वारा; अविकुण्ठ-महिमानम्—जिसकी महिमा प्रकट है; ऋषिम्—सर्वज्ञ; तम्—उस; एनम्—उसको; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; परम्—दिव्य; प्रकृति—प्रकृति को; पूरुषयोः—जीव को; पुमांसम्—भगवान् को।

मैं अपने इस पंचभूतों से निर्मित भौतिक शरीर में होने के कारण परमेश्वर से विलग हो गया हूँ, फलतः मेरे गुणों तथा इन्द्रियों का दुरुपयोग हो रहा है, यद्यपि मैं मूलतः आध्यात्मिक हूँ। चूँकि ऐसे भौतिक शरीर से रहित होने के कारण भगवान् प्रकृति तथा जीव से परे हैं और चूँकि उनके आध्यात्मिक गुण महिमामय हैं, अतः मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जीवात्मा तथा भगवान् का अन्तर यह है कि जीव प्रकृति के वश में रहता है, जबकि भगवान् प्रकृति तथा जीव दोनों से परे हैं। जब जीवात्मा प्रकृति में रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ तथा उसके गुण कलुषित हो जाते हैं या उपाधिमय हो जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रकृति के प्रभाव से बाहर हैं और निस्सन्देह जीव की तरह उन्हें अज्ञान के अन्धकार में नहीं रखा जा सकता। अतः भौतिक गुणों या इन्द्रियों से युक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अपने पूर्ण

ज्ञान के कारण उन पर प्रकृति का वश नहीं चलता। उल्टे प्रकृति सदा ही उनके वश में रहती है, अतः प्रकृति के वश की बात नहीं कि वह भगवान् को अपने वश में रख सके।

चूँकि जीव का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः वह प्रकृति के वश में होता रहता है, किन्तु जब वह मिथ्या शरीर से मुक्त होता है, तो वह भगवान् जैसी ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करता है। उस समय उसमें तथा परमेश्वर में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रह जाता, किन्तु वह इतना शक्तिमान नहीं होता कि प्रकृति के वश में कभी भी न आये, अतः वह भगवान् से भिन्न होता है।

भक्ति की पूरी प्रक्रिया ही अपने आपको प्रकृति के इस कल्मष से शुद्ध करना और आध्यात्मिक स्तर पर आसीन करना है जहाँ वह और भगवान् गुणात्मक रूप से एक होते हैं। वेदों में कहा गया है कि जीव सदैव मुक्त रहता है। *असङ्गो ह्ययं पुरुषः*। जीव मुक्त है। उसका भौतिक कल्मष क्षणिक है और उसकी वास्तविक स्थिति मुक्तता की है। यह मुक्ति कृष्णभावनामृत द्वारा प्राप्त की जाती और शरणागत होने के साथ ही प्रारम्भ होती है। इसलिए कहा गया है, “मैं परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ।”

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरन्तदभिभ्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् की; मायया—माया से; उरु-गुण—महान् गुणों से निकलने वाला; कर्म—कर्म; निबन्धने—बन्धों से; अस्मिन्—इस; सांसारिके—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के; पथि—रास्ते पर; चरन्—चलते हुए; तत्—उसका; अभिभ्रमेण—अत्यधिक कष्ट के साथ; नष्ट—भ्रष्ट; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; अयम्—यह जीव; प्रवृणीत—अनुभव कर सकता है; लोकम्—अपनी असली प्रकृति; युक्त्या कया—जिस किसी साधन से; महत्-अनुग्रहम्—भगवान् की कृपा; अन्तरेण—बिना।

जीव आगे प्रार्थना करता है : जीवात्मा प्रकृति के वशीभूत रहता है और जन्म तथा मरण का चक्र बनाये रखने के लिए कठिन श्रम करता रहता है। यह बद्ध जीवन भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति के कारण है। अतः बिना भगवान् की कृपा के कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में पुनः किस प्रकार संलग्न हो सकता है?

तात्पर्य : मायावादी चिन्तकों का कहना है कि मीमांसा द्वारा ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य ज्ञान से नहीं, अपितु भगवान् की कृपा से मुक्त होता है। कोई बद्धजीव मीमांसा द्वारा कितना ही शक्तिशाली ज्ञान क्यों न प्राप्त कर ले, उससे परम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कहा जाता है कि भगवान् की कृपा के बिना कोई उनको या उनके वास्तविक रूप, गुण तथा नाम को नहीं समझ सकता। जो भक्ति नहीं करते वे कई हजारों वर्षों तक चिन्तन करने के बाद भी परम सत्य के स्वभाव को समझने में असमर्थ रहते हैं।

मनुष्य परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करके केवल श्रीभगवान् की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि चूँकि हम भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा आवृत हैं इसीलिए हमारी स्मृति नष्ट हो जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि भगवान् की परम इच्छा से हमें इस भौतिक शक्ति के अधीन क्यों रखा गया? इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं, “मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मेरे ही कारण मनुष्य भूलता है या ज्ञान में जीवित रहता है।” बद्धजीव की विस्मृति भी परमेश्वर के आदेश से होती है। जीव अपनी बची-खुची स्वतन्त्रता का दुरुपयोग प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के कारण करता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मनुष्य इसे ढंग से या बेढंग से इस्तेमाल कर सकता है। यह अचल नहीं है, सक्रिय है, फलतः स्वतन्त्रता का दुरुपयोग ही माया के वशीभूत होने का कारण है।

माया इतनी प्रबल है कि भगवान् कहते हैं; इसके प्रभाव को पार कर पाना दुष्कर है। किन्तु मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर सहज ही ऐसा कर सकता है। *मामेव ये प्रपद्यन्ते*—जो कोई भी उनकी शरण में जाता है, वह प्रकृति के कठोर नियमों के प्रभाव को पार कर सकता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव उनकी इच्छा से माया के वश में है और यदि कोई इस पाश से छूटना चाहता है, तो यह भगवान् की कृपा से ही सम्भव है।

यहाँ पर माया के अधीन बद्धजीव के कर्मों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक बद्धजीव माया

के अधीन नाना प्रकार के कर्म में लगा हुआ है। हम इस संसार में देख सकते हैं कि जीव इतनी शक्ति से कर्म करता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में उसका आश्चर्यजनक योगदान है। किन्तु वास्तव में उसको अपना पद जानना चाहिए कि वह परमेश्वर का शाश्वत दास है। जब वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह जान जाता है कि भगवान् परम पूज्य हैं और जीव उनका शाश्वत दास है। बिना इस ज्ञान के वह भौतिक कार्यों में लगा रहता है। यह अज्ञान या अविद्या कहलाती है।

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-

स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।

तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-

स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; एतत्—यह; अदधात्—दिया; कतमः—के अतिरिक्त दूसरा; सः—वह; देवः—भगवान्; त्रै-कालिकम्—तीनों कालों का; स्थिर-चरेषु—जड़ तथा जंगम में; अनुवर्तित—रहते हुए; अंशः—उनका आंशिक स्वरूप; तम्—उसको; जीव—जीवात्माओं का; कर्म-पदवीम्—सकाम कर्मों का मार्ग; अनुवर्तमानाः—पालन करने वाले; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—मुक्त होने के लिए; वयम्—हम; भजेम—शरण में जाएँ।

भगवान् के आंशिक स्वरूप अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त और कौन समस्त चर तथा अचर वस्तुओं का निर्देशन कर रहा है? वे काल की इन तीनों अवस्थाओं भूत, वर्तमान तथा भविष्य में उपस्थित रहते हैं। अतः बद्धजीव उनके ही आदेश से विभिन्न कर्मों में रत है और इस बद्ध जीवन के तीनों तापों से मुक्त होने के लिए हमें उनकी ही शरण ग्रहण करनी होगी।

तात्पर्य : जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूटने के लिए उत्सुक रहता है, तो उसके अन्तःकरण में स्थित परमात्मास्वरूप भगवान् उसे यह ज्ञान देते हैं, “मेरी शरण में आओ।” जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं, “अन्य सारे कार्यों का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण करो।” यह मानना होगा कि ज्ञान का स्रोत परम पुरुष है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि होती है। *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। भगवान् कहते हैं, “मेरे ही द्वारा मनुष्य वास्तविक ज्ञान तथा स्मृति प्राप्त करता है और मुझी से विस्मृति भी मिलती है।” जो मनुष्य भौतिक दृष्टि से

संतुष्ट होना चाहता है या जो प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है भगवान् उसे अपनी सेवा की विस्मृति तथा भौतिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करते हैं। इसी प्रकार जब कोई इस प्रकृति पर अधिकार करने में हताश हो जाता है और भवबन्धन से छूटना चाहता है, तो भगवान् उसे भीतर से यह ज्ञान प्रदान करते हैं कि वह उनकी शरण में जावे, तभी उसकी मुक्ति होगी।

यह ज्ञान भगवान् या उनके प्रतिनिधि के अतिरिक्त अन्य कोई प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य *चैतन्य-चरितामृत* में रूप गोस्वामी को उपदेश देते हैं कि जीव जन्म-जन्मान्तर घूमता है और संसार के कष्ट भोगता रहता है। किन्तु जब कोई भव-बन्धन से छूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है, तो उसे गुरु तथा कृष्ण से प्रकाश प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और जब जीव वास्तव में उत्सुक होता है, तो वे उसे अपने प्रतिनिधि प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करने का आदेश देते हैं। गुरु द्वारा भीतर से निर्देशित होकर तथा बाहर से पथ दिखाये जाने पर मनुष्य को कृष्णभक्ति का मार्ग प्राप्त होता है, जो भवबन्धन से छूटने का मार्ग है।

अतः जब तक भगवान् का आशीर्वाद नहीं मिलता तब तक कोई अपने वास्तविक पद पर स्थित नहीं हो पाता। जब तक उसे परम ज्ञान द्वारा प्रकाश प्राप्त नहीं हो लेता तब तक उसे इस जगत में जीवन-संघर्ष के लिए कठिन यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। अतः गुरु परम पुरुष की कृपा का प्राकट्य होता है। बद्धजीव को गुरु से प्रत्यक्ष आदेश प्राप्त करने होते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे वह कृष्णभक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है। कृष्णभक्ति का बीज बद्धजीव के हृदय में बोया जाता है और जब मनुष्य गुरु के उपदेश सुनता है, तो यह बीज फलित होता है और जीवन धन्य हो जाता है।

देहान्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-

विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।

इच्छन्नितो विवसितुं गणयन्स्वमासान्

निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्कदा नु ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

देही—देहधारी जीव; अन्य-देह—दूसरे शरीर के; विवरे—उदर में; जठर—पेट की; अग्निना—अग्नि से; असृक्—रक्त; विट्—मल; मूत्र—तथा मूत्र के; कूप—कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; भृश—प्रबल रूप से; तप्त—जला हुआ; देहः—उसका शरीर; इच्छन्—चाहते हुए; इतः—इस स्थान से; विवसितुम्—बाहर निकलने के लिए; गणयन्—गिनते हुए; स्वमासान्—अपने महीने; निर्वास्यते—मुक्त किया जावेगा; कृपण-धीः—कृपण बुद्धि का व्यक्ति; भगवन्—हे भगवान्; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

अपनी माता के उदर में रक्त, मल तथा मूत्र के कूप में गिर कर और अपनी माँ की जठराग्नि से दग्ध देहधारी जीव बाहर निकलने की व्यग्रता में महीनों की गिनती करता रहता है और प्रार्थना करता है, “हे भगवान्, यह अभागा जीव कब इस कारागार से मुक्त हो पाएगा?”

तात्पर्य : यहाँ पर माता के गर्भ में जीव की विषम परिस्थिति का वर्णन है। एक ओर शिशु जठराग्नि की उष्मा से तपता रहता है और दूसरी ओर मल, मूत्र, रक्त आदि रहते हैं। सात मास के बाद शिशु में चेतना आ जाती है, अतः उसे अपनी दुःसह स्थिति का बोध होने लगता है और वह भगवान् से प्रार्थना करता है। बाहर आने तक वह माहों की गिनती करता रहता है और उस कारागार से निकलने के लिए व्यग्र रहता है। तथाकथित सभ्य मनुष्य जीवन की इस भयावह स्थिति पर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से वह गर्भनिरोधक विधियों या गर्भपात के द्वारा उसे मारने का प्रयत्न करता है। ऐसे लोग गर्भ की भयावह स्थिति के प्रति चिन्तित न रह कर भौतिकता में पड़े रहते हैं और मनुष्य जीवन का दुरुपयोग करते हैं।

इस श्लोक का कृपणधीः शब्द महत्त्वपूर्ण है। धीः का अर्थ है ‘बुद्धि’ और कृपण का अर्थ है ‘कंजूस’। बद्धजीवन उन लोगों के लिए बना है, जो बुद्धि के कृपण हैं या जो अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। मनुष्य में बुद्धि विकसित रहती है और इस बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए करना होता है। जो ऐसा नहीं करता वह कंजूस है—वह केवल उसे देखता रहे। जो व्यक्ति अपनी मानव बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र अर्थात् माया के पाश से निकलने के लिए नहीं करता वह कंजूस माना जाता है। कृपण का विलोम ‘उदार’ है। ब्राह्मण उदार कहलाता है, क्योंकि वह अपनी मानवी बुद्धि का उपयोग आध्यात्मिक बोध के

लिए करता है। वह उस बुद्धि का उपयोग जनता के लाभ हेतु कृष्णभक्ति का उपदेश करने के लिए करता है इसलिए वह उदार है।

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश

सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।

स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः

को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा (भगवान् के द्वारा); ईदृशीम्—ऐसी; गतिम्—स्थिति; असौ—वह व्यक्ति (मैं); दश-मास्यः—दस मास का; ईश—हे प्रभु; सङ्ग्राहितः—स्वीकार कराया जाता है; पुरु-दयेन—अत्यन्त दयालु; भवादृशेन—अतुलनीय; स्वेन—अपना; एव—अकेला; तुष्यतु—वे प्रसन्न हों; कृतेन—अपने कर्म से; सः—वह; दीन-नाथः—पतितों के आश्रय; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; तत्—वह दया; प्रति—बदले में; विना—अतिरिक्त; अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर; अस्य—भगवान् के; कुर्यात्—कर सकता है।

हे भगवान्, आपकी अहैतुकी कृपा से मुझमें चेतना आई, यद्यपि मैं अभी केवल दस मास का हूँ। पतितात्माओं के मित्र भगवान् की इस अहैतुकी कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट करने के हेतु मेरे पास हाथ जोड़कर प्रार्थना करने के अतिरिक्त है ही क्या?

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शरीर के भीतर आत्मा के साथ स्थित परमात्मा ही बुद्धि तथा विस्मृति के देने वाले हैं। जब भगवान् देखते हैं कि बद्धजीव माया के बन्धन से छूटने के लिए उत्सुक है, तो वे भीतर से परमात्मा के रूप में और बाहर से गुरु रूप में बुद्धि प्रदान करते हैं अथवा साक्षात् भगवान् का अवतार लेकर उपदेश देते हैं, यथा *भगवद्गीता*। भगवान् सदैव ऐसा अवसर देखते रहते हैं कि पतित आत्माओं को ईश्वर के धाम ले जाँय। हमें भगवान् के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि वे हमें सदैव सुखी बनाना चाहते हैं। हमारे पास भगवान् को उनकी भलाई का बदला चुकाने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है, अतः हम केवल कृतज्ञता का अनुभव कर सकते हैं और हाथ जोड़कर उनकी प्रार्थना कर सकते हैं। कुछ नास्तिक लोग गर्भस्थ शिशु की इस प्रार्थना के विषय में सन्देह व्यक्त कर सकते हैं कि शिशु अपनी माँ के गर्भ में ऐसी सुन्दर प्रार्थना किस तरह कर सकता है? किन्तु भगवान् की कृपा से सब कुछ सम्भव है। बाह्य रूप से शिशु को इतनी भयावह स्थिति में रखा जाता है, किन्तु आन्तरिक रूप से वह वही है और भगवान् वहाँ होते हैं। भगवान् की दिव्य शक्ति से सब

कुछ सम्भव है।

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्निः

शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।

यत्सृष्ट्यासं तमहं पुरुषं पुराणं

पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पश्यति—देखता है; अयम्—यह जीव; धिषणया—बुद्धि से; ननु—केवल; सप्त-वध्निः—सात आवरणों से घिरा; शारीरके—ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभव; दम-शरीरी—आत्म-निग्रह के लिए शरीर धारण करने वाला; अपरः—दूसरा; स्व-देहे—अपने शरीरमें; यत्—परमेश्वर द्वारा; सृष्ट्या—प्रदत्त; आसम्—था; तम्—उस; अहम्—मैं; पुरुषम्—पुरुष को; पुराणम्—प्राचीनतम्; पश्ये—देखता हूँ; बहिः—बाहर; हृदि—हृदय में; च—तथा; चैत्यम्—अहंकार का स्रोत; इव—निस्सन्देह; प्रतीतम्—मान्य।

अन्य प्रकार का शरीरधारी जीव केवल अन्तःप्रेरणा से देखता है, वह उस शरीर के ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभवों से ही परिचित होता है, किन्तु मुझे ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें मैं अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हूँ और अपने गन्तव्य को समझता हूँ, अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके आशीर्वाद से मुझे यह शरीर प्राप्त हुआ है और जिनकी कृपा से मैं उन्हें भीतर और बाहर देख सकता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के शरीरों की विकास क्रिया फूल के फलने के समान है। जिस प्रकार फूल के विकास की कई अवस्थाएँ होती हैं—कली, विकासमान फूल, पूर्ण विकसित फूल तथा सुगंध और सुन्दरता से पूरित फूल। इस प्रकार क्रमिक विकास में ८४,००,००० योनियाँ होती हैं और निम्नयोनि से उच्चतर योनि में क्रमबद्ध उन्नति होती है। मनुष्य जीवन सर्वोच्च समझा जाता है, क्योंकि इसमें जन्म तथा मृत्यु के बंधन से छूटने की बुद्धि रहती है। माता के गर्भ में स्थित भाग्यवान् शिशु अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है और इस तरह वह अन्य प्राणियों से पृथक् होता है। मनुष्य से नीचे के पशुओं में सुख-दुख की चेतना रहती है, किन्तु वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं—खाना, सोना, संभोग तथा सुरक्षा से अधिक और कुछ नहीं सोच पाते। किन्तु ईश्वर की कृपा से मनुष्य में चेतना इतनी विकसित रहती है कि वह अपनी अद्वितीय स्थिति का मूल्यांकन कर सकता है और आत्मा तथा परमात्मा दोनों का साक्षात्कार कर सकता है।

दम-शरीरी शब्द का अर्थ है कि हमें ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें हम इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकते हैं। भौतिक जीवन की सारी जटिलता अनियंत्रित मन तथा अनियंत्रित इन्द्रियों से है। मनुष्य को ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए कि उसे ऐसा सुन्दर मनुष्य का शरीर मिला और उसे इसका सही-सही उपयोग करना चाहिए। पशु तथा मनुष्य का यही अन्तर है कि पशु अपने आपको वश में नहीं रख सकता है, उसमें शिष्टता का भाव नहीं रहता जब कि मनुष्य में शिष्टता का भाव तथा आत्म-नियन्त्रण रहता है। यदि मनुष्य इस नियन्त्रण-शक्ति को प्रदर्शित नहीं कर पाता तो वह पशु के तुल्य है। इन्द्रियों के नियन्त्रण या योग विधि से मनुष्य स्वयं को, परमात्मा को, संसार को तथा इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों को समझ सकता है। इन्द्रियों के नियन्त्रण से सब कुछ सम्भव है। अन्यथा हम पशु तुल्य हैं।

यहाँ पर इन्द्रियों के नियन्त्रण द्वारा आत्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा अपने (आत्मा) को भी देखने का प्रयत्न करे। अपने को परमेश्वर समझना आत्म-साक्षात्कार नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि परमेश्वर *अनादि* या *पुराण* है और उनका कोई अन्य कारण नहीं है। जीव भगवान् के अंश रूप में पैदा होता है। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*अनादिरादिर्गोविन्दः*—परम पुरुष गोविन्द का कोई कारण नहीं है। वे अजन्मा हैं। किन्तु जीवात्मा उनसे उत्पन्न है। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि *ममैवांशः*—जीव तथा परमेश्वर दोनों अजन्मा हैं, किन्तु यह जान लेना चाहिए कि अंश का परम कारण भगवान् है। अतः *ब्रह्म-संहिता* कहती है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न हुई (*सर्वकारणकारणम्*)। *वेदान्त-सूत्र* भी इसकी पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यतः*—परम सत्य ही हर एक के जन्म का मूल स्रोत है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण का कथन है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं हर वस्तु का जन्म-स्रोत हूँ जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य जीव सम्मिलित हैं। यह आत्म-साक्षात्कार है। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह परमेश्वर के अधीन है, उसे अपने को परम स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिए। अन्यथा उसे बद्ध जीवन में क्यों रखा जाता ?

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
 गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
 यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
 मिथ्या मतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं; वसन्—रहते हुए; अपि—यद्यपि; विभो—हे प्रभु; बहु-दुःख—अनेक दुखों से; वासम्—
 अवस्था में; गर्भात्—उदर से; न—नहीं; निर्जिगमिषे—जाना चाहता हूँ; बहिः—बाहर; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में;
 यत्र—जहाँ; उपयातम्—जाने वाले को; उपसर्पति—पकड़ लेती है; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति;
 मिथ्या—झूठी; मतिः—पहचान; यत्—जो माया; अनु—के अनुसार; संसृति—जन्म-मृत्यु का; चक्रम्—चक्र;
 एतत्—यह ।

अतः हे प्रभु, यद्यपि मैं अत्यन्त भयावह परिस्थिति में रह रहा हूँ, किन्तु मैं अपनी माँ के गर्भ से बाहर आकर भौतिक जीवन के अन्धकूप में गिरना नहीं चाहता। देवमाया नामक आपकी बहिरंगा शक्ति तुरन्त नवजात शिशु को पकड़ लेती है और उसके बाद तुरन्त ही झूठा स्वरूपज्ञान प्रारम्भ हो जाता है, जो निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र का शुभारम्भ है।

तात्पर्य : जब तक शिशु अपनी माता के गर्भ में रहता है, तो उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण तथा भयावह रहता है, किन्तु इसका लाभ यह होता है कि वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की शुद्ध चेतना जाग्रत कर लेता है और अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है। किन्तु उदर से बाहर आते ही, जब शिशु का जन्म हो जाता है, तो माया इतनी प्रबल होती है कि उसे तुरन्त घेरकर इस शरीर को 'स्व' मनवाया जाता है। माया का अर्थ है "जो नहीं है" अर्थात् भ्रम। भौतिक जगत में हर व्यक्ति अपने को अपना शरीर करके पहचानता है। यह मिथ्या अहंकार की चेतना कि, "मैं यह शरीर हूँ", शिशु के गर्भ से बाहर निकलते ही उत्पन्न हो जाती है। माता तथा सम्बन्धी शिशु की प्रतीक्षा करते हैं। ज्योंही वह पैदा होता है, तो माँ उसे दूध पिलाती है और सभी उसकी देख-रेख करते हैं। जीव तुरन्त अपनी स्थिति भूल जाता है और शारीरिक सम्बन्धों में उलझ जाता है। सारा संसार देहात्मबुद्धि का बन्धन है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ इस चेतना को विकसित करना है कि, "मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ, परमेश्वर का अंश हूँ।" वास्तविक ज्ञान में त्याग अथवा इस शरीर को 'स्व' रूप में न स्वीकार करना है।

मनुष्य जन्म लेते ही माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाता है। अतः शिशु प्रार्थना करता है कि बाहर निकलने की अपेक्षा गर्भ में ही रहना श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि यही सोचकर शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में सोलह वर्षों तक रहे आये, क्योंकि वे मिथ्या देह-बोध के बंधन में फँसना नहीं चाहते थे। अपनी माता के गर्भ में ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करके सोलह वर्ष बाद वे गर्भ के बाहर आये और तुरंत ही उन्होंने घर छोड़ दिया जिससे वे माया के वशीभूत न हों। *भगवद्गीता* में भी माया के प्रभाव को दुर्लभ्य कहा गया है। किन्तु यह दुर्लभ्य माया एकमात्र कृष्णभावनामृत से ही पराजित हो सकती है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*। जो भी कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह इस झूठे जीवन-बोध से बाहर निकल सकता है। केवल माया के प्रभाव से मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने को शरीर तथा शरीर के गौण अवयव— अर्थात् पत्नी, सन्तान, समाज, मित्रता, प्यार आदि—समझने लगता है। इस प्रकार वह माया का शिकार हो जाता है और उसका निरन्तर जन्म तथा मृत्यु का भौतिकतावादी जीवन और भी कठिन बन जाता है।

तस्मादहं विगतविकलव उद्धरिष्य

आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।

भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं

मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; अहम्—मैं; विगत—छोड़कर, रहित; विकलवः—क्षोभ, व्याकुलता; उद्धरिष्ये—उद्धार करूँगा; आत्मानम्—अपना; आशु—शीघ्र; तमसः—अंधकार से; सुहृदा आत्मना—मित्र रूपी बुद्धि से; एव—निस्सन्देह; भूयः—पुनः; यथा—जिससे; व्यसनम्—दयनीय स्थिति; एतत्—यह; अनेक-रन्ध्रम्—अनेक गर्भों में प्रविष्ट होना; मा—नहीं; मे—मेरा; भविष्यत्—होगा; उपसादित—(मन में) रखा हुआ; विष्णु-पादः—भगवान् विष्णु के चरणकमल।

अतः और अधिक क्षुब्ध न होकर मैं अपने मित्र विशुद्ध चेतना की सहायता से अज्ञान के अन्धकार से अपना उद्धार करूँगा। केवल भगवान् विष्णु के चरणकमलों को अपने मन में धारण करके मैं बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के लिए अनेक माताओं के गर्भों में प्रविष्ट करने से बच सकूँगा।

तात्पर्य : संसार के कष्ट उसी दिन से प्रारम्भ हो जाते हैं जब आत्मा माता तथा पिता के रज तथा शुक्र में शरण प्राप्त करता है और ये कष्ट माता के गर्भ से निकलने के बाद तथा उसके भी आगे चलते रहते हैं। हम नहीं जानते कि इन दुखों का अन्त कहाँ है। किन्तु इनका अन्त शरीर बदलने से नहीं होता। यह शरीर-परिवर्तन प्रतिक्षण चल रहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम गर्भावस्था की तुलना में उन्नति करके सुखी स्थिति को प्राप्त कर रहे हैं। अतः सबसे अच्छा यह है कि कृष्णभावनामृत का विकास किया जाय। यहाँ पर *उपसादित विष्णु-पादः* कहा गया है कि जिसका अर्थ है कृष्णभक्ति की अनुभूति। जो बुद्धिमान है और कृष्णभक्ति उत्पन्न कर सकता है, वह इस जीवन में सफल होता है, क्योंकि केवल कृष्णभक्ति करने से ही वह जन्म तथा मृत्यु के चक्र से बच जाएगा।

शिशु प्रार्थना करता है कि अंधकार के गर्भ में रहकर निरन्तर कृष्णभक्ति में तल्लीन रहना बाहर निकल कर पुनः माया के चंगुल में पड़ने से श्रेयस्कर है। यह माया गर्भ के भीतर और बाहर समान रूप से कार्य करती है, किन्तु चातुरी इसमें है कि कृष्णभक्ति की जाय जिससे इसका प्रभाव उतना बुरा न पड़े। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य की बुद्धि उसका मित्र है और साथ ही शत्रु भी है। यहाँ पर इसी भाव की पुनरावृत्ति हुई है—*सुहृदात्मनैव*—मित्रवत् बुद्धि। कृष्ण की सेवा में तथा कृष्ण की पूर्ण चेतना में बुद्धि की तल्लीनता ही आत्म-साक्षात्कार तथा मुक्ति का मार्ग है। वृथा ही क्षुब्ध हुए बिना यदि हम हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का निरन्तर जप करते हुए कृष्णभक्ति (कृष्णभावनामृत) की विधि ग्रहण करें तो जन्म-मृत्यु के चक्र को सदा के लिए रोका जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव में शिशु माता के गर्भ में कृष्णभक्ति किस प्रकार कर सकता है? भगवान् विष्णु की पूजा के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। शिशु माता के गर्भ में ही रहना चाहता है और साथ ही माया के चंगुल से भी मुक्त होना चाहता है। कृष्णभक्ति के अनुशीलन के लिए

किसी प्रकार की भौतिक व्यवस्था आवश्यक नहीं है। कोई कहीं भी और कभी भी कृष्णभक्ति का अनुशीलन कर सकता है बशर्ते वह कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करे। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का जप माता के गर्भ में भी किया जा सकता है। सोते, जागते, काम करते, यहाँ तक कि माता के गर्भ में या उसके बाहर भी जप किया जा सकता है। शिशु की प्रार्थना का सारांश है, “मुझे इसी अवस्था में रहने दें, भले ही मैं दुखद स्थिति में हूँ, किन्तु बाहर जाकर माया के चंगुल में पड़ने से यह श्रेयस्कर है।”

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।

सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-मतिः—इच्छा करते हुए; गर्भे—गर्भ में; दश-मास्यः—दस मास का; स्तुवन्—स्तुति करता हुआ; ऋषिः—जीव; सद्यः—उसी समय; क्षिपति—बाहर फेंकती है; अवाचीनम्—औंधा, अधोमुख; प्रसूत्यै—जन्म के लिए; सूति-मारुतः—प्रसव काल की वायु।

भगवान् कपिल ने कहा : अभी तक गर्भ में स्थित इस दस मास के जीव की भी ऐसी कामनाएँ होती हैं। किन्तु जब वह भगवान् की स्तुति करता रहता है तभी प्रसूति काल की वायु औंधे मुँह पड़े हुए उस शिशु को बाहर की ओर धकेलती है, जिससे वह जन्म ले सके।

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्शिर आतुरः ।

विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस वायु से; अवसृष्टः—बाहर की ओर धकेला जाकर; सहसा—अकस्मात्; कृत्वा—करके; अवाक्—औंधा; शिरः—शिर; आतुरः—कष्ट पाता हुआ; विनिष्क्रामति—बाहर आता है; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; निरुच्छ्वासः—श्वासरहित; हत—विनष्ट; स्मृतिः—स्मृति।

वायु द्वारा सहसा नीचे की ओर धकेला जाकर अत्यन्त कठिनाई से, सिर के बल, श्वासरहित तथा तीव्र वेदना के कारण स्मृति से विहीन होकर शिशु बाहर आता है।

तात्पर्य : कृच्छ्रेण शब्द का अभिप्राय है “अत्यन्त कठिनाई के साथ।” जब शिशु संकीर्ण

मार्ग से होकर गर्भ के बाहर निकलता है, तो भारी दबाव के कारण श्वास पूर्णतया रुक जाती है और वेदना के कारण शिशु अपनी स्मृति खो देता है। कभी-कभी इतनी पीड़ा होती है कि मृत या मृतप्राय शिशु जन्मता है। प्रसव-पीड़ा की कल्पना की जा सकती है। शिशु उस विकट परिस्थिति में दस मास तक गर्भ के भीतर रहता है और दस मास के बाद वह बलपूर्वक बाहर कर दिया जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् संकेत करते हैं कि जो आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने के लिए उत्सुक है उसे जन्म, मृत्यु, रोग तथा जरा इन चार पीड़ाओं का विचार करना चाहिए। भौतिकतावादी भले ही अनेक प्रकार से प्रगति कर ले, किन्तु वह संसार के इन चार प्रकार के कष्टों को रोकने में असमर्थ है।

पतितो भुव्यसृङ्मिश्रः विष्ठाभूरिव चेष्टते ।

रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पतितः—गिरा हुआ; भुवि—पृथ्वी पर; असृक्—रक्त से; मिश्रः—सना हुआ; विष्ठा-भूः—कीड़ा; इव—सदृश; चेष्टते—छटपटाता है; रोरूयति—जोर से चिल्लाता है; गते—नष्ट होने पर; ज्ञाने—अपनी चतुराई; विपरीताम्—विपरीत; गतिम्—अवस्था को; गतः—गया हुआ।

इस प्रकार वह शिशु मल तथा रक्त से सना हुआ पृथ्वी पर आ गिरता है और मल से उत्पन्न कीड़े के समान छटपटाता है। उसका श्रेष्ठ ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह माया के मोहजाल में विलखता है।

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।

अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पर-छन्दम्—पराई इच्छा; न—नहीं; विदुषा—समझ करके; पुष्यमाणः—पालित होकर; जनेन—व्यक्तियों द्वारा; सः—वह; अनभिप्रेतम्—अवांछित परिस्थितियों में; आपन्नः—गिरा हुआ; प्रत्याख्यातुम्—इनकार करने के लिए; अनीश्वरः—असमर्थ।

उदर से निकलने के बाद शिशु ऐसे लोगों की देख-रेख में आ जाता है और उसका पालन ऐसे लोगों द्वारा होता रहता है, जो यह नहीं समझ पाते कि वह चाहता क्या है। उसे जो कुछ मिलता है उसे वह इनकार न कर सकने के कारण वह अवांछित परिस्थिति में

आ पड़ता है।

तात्पर्य : माता के उदर में शिशु का पोषण प्राकृतिक व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होता था। यद्यपि उदर के भीतर का वातावरण तनिक भी रुचिकर नहीं था, किन्तु जहाँ तक शिशु के खाने का प्रश्न था, उसके लिए प्राकृतिक व्यवस्था थी। किन्तु उदर से बाहर आने पर शिशु एक भिन्न वातावरण में आ पड़ता है। वह खाना कुछ चाहता है, किन्तु मिलता उसे कुछ दूसरा ही है, क्योंकि लोग असली माँग नहीं समझ पाते और उसे जो कुछ दिया जाता है उसे वह इनकार भी नहीं कर पाता। कभी-कभी शिशु माता के दूध के लिए रोता है, किन्तु धाय सोचती है कि उसके पेट में दर्द होगा जिससे वह रो रहा है, अतः वह उसे कड़वी दवा लाकर देती है। शिशु उसे पसन्द नहीं करता, किन्तु उसे मना भी नहीं कर सकता। इस तरह वह अत्यन्त विषम परिस्थिति में पड़ जाता है और उसके कष्ट बढ़ते ही जाते हैं।

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते ।

नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शायितः—लिटाया गया; अशुचि-पर्यङ्के—मैले कुचैले बिस्तर पर; जन्तुः—शिशु; स्वेद-ज—पसीने से उत्पन्न प्राणियों से; दूषिते—पूर्ण; न ईशः—असमर्थ; कण्डूयने—खुजलाते हुए; अङ्गानाम्—अपने अंगों का; आसन—बैठे हुए; उत्थान—खड़े हुए; चेष्टने—या चलते हुए।

पसीने तथा कीड़ों से भरे हुए मैले-कुचैले बिस्तर पर लिटाया हुआ शिशु खुजलाहट से मुक्ति पाने के लिए अपना शरीर खुजला भी नहीं पाता; बैठने, खड़े होने या चलने की बात तो दूर रही।

तात्पर्य : ध्यान देने की बात है कि शिशु रोता हुआ तथा पीड़ा का अनुभव करता हुआ उत्पन्न होता है। जन्म के बाद भी वही कष्ट चालू रहता है और वह रोता जाता है। चूँकि मल तथा मूत्र के कारण मैले-कुचैले बिस्तर के कीड़े उसे परेशान करते हैं, इसीलिए वह बेचारा रोता है। वह इसका कोई उपचार नहीं कर सकता।

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः ।

रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तुदन्ति—काटते हैं; आम-त्वचम्—मुलायम चमड़ी वाले बालक को; दंशाः—डाँस (बड़ा मच्छर); मशकाः—
मच्छर; मत्कुण—खटमल; आदयः—इत्यादि अन्य प्राणी; रुदन्तम्—रोते हुए; विगत—विनष्ट; ज्ञानम्—ज्ञान;
कृमयः—कीड़े; कृमिकम्—कीड़े को; यथा—जिस तरह।

इस असहाय अवस्था में मुलायम त्वचा वाले बालक को डाँस, मच्छर, खटमल तथा अन्य कीड़े काटते रहते हैं, जिस तरह बड़े कीड़े को छोटे-छोटे कीड़े काटते रहते हैं। बालक अपना सारा ज्ञान गँवा कर जोर-जोर से चिल्लाता है।

तात्पर्य : विगत ज्ञानम् शब्द का अर्थ है कि शिशु ने उदर में जो आध्यात्मिक ज्ञान विकसित किया था वह माया के प्रभाव से पहले ही नष्ट हो जाता है। अनेक प्रकार के उत्पातों एवं उदर से बाहर आने के कारण बालक को स्मरण नहीं रह जाता कि अपने मोक्ष के लिए वह क्या सोच रहा था। यह मान लिया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति ऊपर उठने का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर भी ले, तो परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह उसे भूल सकता है। अतः न केवल शिशुओं को, अपितु वयस्क पुरुषों को अपने कृष्णभावना सम्बन्धी ज्ञान बचाने के लिए सचेत रहना चाहिए और प्रतिकूल परिस्थितियों से बचना चाहिए जिससे वे अपना मुख्य कर्तव्य न भूलें।

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।

अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति एवम्—इस प्रकार से; शैशवम्—बाल्यकाल को; भुक्त्वा—बिताकर; दुःखम्—दुख को; पौगण्डम्—
किशोरावस्था को; एव—ही; च—तथा; अलब्ध—अप्राप्त; अभीप्सितः—जिसकी इच्छाएँ; अज्ञानात्—अज्ञानवश;
इद्ध—प्रज्वलित; मन्युः—क्रोध; शुचा—शोक से; अर्पितः—अभिभूत, संतप्त।

इस प्रकार विविध प्रकार के कष्ट भोगता हुआ शिशु अपना बाल्यकाल बिता कर किशोरावस्था प्राप्त करता है। किशोरावस्था में भी वह अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा करता है, किन्तु उनके न प्राप्त होने पर उसे पीड़ा होती है। इस प्रकार अज्ञान के कारण वह क्रुद्ध तथा दुःखित होता है।

तात्पर्य : जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था बाल्यकाल कहलाती है और पाँच वर्ष से

पन्द्रह वर्ष की अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। सोलह वर्ष से युवावस्था प्रारम्भ होती है। बाल्यकाल के कष्टों का वर्णन हो चुका है, किन्तु जब बालक किशोरावस्था प्राप्त करता है, तो उसका नाम पाठशाला में लिखा दिया जाता है, जिसे वह नहीं चाहता। वह तो खेलना चाहता है, किन्तु उसे जबरन पाठशाला भेजा जाता है जहाँ वह पढ़े और परीक्षाएँ दे। दूसरा कष्ट यह है कि वह कुछ ऐसी वस्तुएँ चाहता है जिनसे खेले, किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं कि वह उन्हें नहीं प्राप्त कर पाता। इस तरह वह दुखी होता है और उसे पीड़ा होती है। एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह अपने बाल्यकाल की ही तरह कुमारावस्था में भी अप्रसन्न रहता है। तरुणावस्था की बात जाने दें। बच्चे खेलने के लिए न जाने कितनी तरह की माँगें प्रस्तुत करते हैं और जब उनको संतोष नहीं मिलता तो वे क्रोध से उबल पड़ते हैं जिसका परिणाम होता है दुख।

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।

करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सह—साथ; देहेन—शरीर के; मानेन—झूठी प्रतिष्ठा से; वर्धमानेन—बढ़ने से; मन्युना—क्रोध से; करोति—उत्पन्न करता है; विग्रहम्—शत्रुता, वैर; कामी—विषयी पुरुष; कामिषु—दूसरे विषयी पुरुष के प्रति; अन्ताय—विनाश के लिए; च—तथा; आत्मनः—अपने आत्मा का।

शरीर बढ़ने के साथ ही जीव अपने आत्मा को परास्त करने के लिए अपनी झूठी प्रतिष्ठा को तथा क्रोध को बढ़ाता है और इस तरह अपने ही जैसे कामी पुरुषों के साथ वैर उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.३६) में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जीव की कामवासना के विषय में प्रश्न किया। यह पूछा कि जब जीव शाश्वत है और इस तरह वह गुणात्मक रूप में परमेश्वर के ही समतुल्य है, तो क्या कारण है कि वह भवसागर में आ गिरता है और माया के वशीभूत हो अनेक पापकर्म करता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि कामवासना के कारण जीवात्मा उच्च पद से अधम पद पर आ गिरता है। परिस्थितिवश यही कामवासना क्रोध में परिणत हो जाती है। कामवासना तथा क्रोध रजोगुण पद पर स्थित हैं। कामवासना वास्तव में

रजोगुण से उत्पन्न होती है और कामेच्छा की तृप्ति न होने पर वह तमोगुण पद पर क्रोध में परिणत हो जाती है। जब अज्ञान आत्मा को आच्छादित कर लेता है, तो जीव नारकीय जीवन की सर्वाधिक अधम स्थिति में आ गिरता है।

अपने को नारकीय जीवन से आध्यात्मिक ज्ञान के सर्वोच्च पद तक उठाने के लिए इस कामवासना को कृष्णप्रेम में परिणत करना होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्री नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है—*काम कृष्णकर्मार्पणे*—कामवासना के कारण हम इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक वस्तुएँ चाहते हैं, किन्तु इसी वासना को इस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है कि हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सारी इच्छाएँ करें। क्रोध का भी उपयोग ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध किया जा सकता है, जो नास्तिक है या भगवान् से द्वेष रखता है। चूँकि हम काम तथा क्रोध के कारण इस संसार में आ गिरे हैं अतः इन दोनों गुणों का उपयोग कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और मनुष्य पुनः अपना पूर्व शुद्ध आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकता है। अतः श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि चूँकि इस संसार में इन्द्रियतृप्ति की ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिनकी आवश्यकता शरीर के पालन के लिए पड़ती है, अतः हमें निष्काम भाव से इन सबका उपयोग कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए करना चाहिए। यही वास्तविक त्याग है।

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।

अहं ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूतैः—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; पञ्चभिः—पाँच; आरब्धे—निर्मित; देहे—शरीर में; देही—जीव; अबुधः—अज्ञानी; असकृत्—निरन्तर; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—अस्थायी वस्तुएँ; ग्राहः—स्वीकार करते हुए; करोति—करता है; कु-मतिः—मूर्ख होने के कारण; मतिम्—विचार।

ऐसे अज्ञान से जीव पंचतत्त्वों से निर्मित भौतिक शरीर को 'स्व' मान लेता है। इस भ्रम के कारण वह क्षणिक वस्तुओं को निजी समझता है और अन्धकारमय क्षेत्र में अपना अज्ञान बढ़ाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अज्ञान के विस्तार की व्याख्या हुई है। पहला अज्ञान है पंचतत्त्वों

से निर्मित अपने शरीर को स्व (आत्मा) मान बैठना और दूसरा है शरीर से सम्बद्ध किसी वस्तु को अपनी निजी समझना। इस प्रकार अज्ञान का विस्तार होता जाता है। जीव शाश्वत है, किन्तु क्षणिक वस्तुओं को स्वीकार करते रहने, अपने हित की बात ठीक से न समझ पाने से वह अज्ञान को प्राप्त होता है, अतः उसे भौतिक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

तदर्थं कुरुते कर्म यद्वद्धो याति संसृतिम् ।

योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-अर्थम्—शरीर के लिए; कुरुते—करता है; कर्म—कर्म; यत्-बद्धः—जिससे बँधकर; याति—जाता है; संसृतिम्—जन्म तथा मृत्यु के चक्र को; यः—जो शरीर; अनुयाति—अनुसरण करता है; ददत्—देते हुए; क्लेशम्—क्लेश; अविद्या—अज्ञान से; कर्म—सकाम कर्म से; बन्धनः—बन्धन का कारण।

जो शरीर जीव के लिए निरन्तर कष्ट का साधन है और जो अज्ञान तथा कर्म के बन्धन से बँधे जीव का अनुगमन करता है, उस शरीर के लिए जीव अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्र के अधीन हो जाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि यज्ञ अथवा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को कर्म करना पड़ता है, क्योंकि जो भी कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के अभिप्राय से नहीं किया जाता वह बन्धन का कारण होता है। बद्ध अवस्था में जीव अपने आपको शरीर मानकर भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने शरीर के स्वार्थ के लिए कर्म करता है। वह शरीर को 'स्व' मान लेता है, वह अपने शारीरिक विस्तारों को, अपने परिजन तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मान लेता है। इस प्रकार वह सभी प्रकार के दुश्चिन्त्य कर्म करता रहता है, जिससे विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है।

आधुनिक सभ्यता में देहात्मबुद्धि के कारण तथाकथित सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सरकारी नेता जनता को अधिकाधिक गुमराह करते हैं फलस्वरूप सारे नेता तथा उनके साथ ही उनके अनुयायी जन्म-जन्मान्तर के लिए नारकीय अवस्था में जा गिरते हैं। श्रीमद्भागवत में एक दृष्टान्त मिलता है। अन्धा यथान्धैरुपनीयमानाः—जब कोई अन्धा व्यक्ति अनेक ऐसे ही अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है, तो परिणाम यह निकलता है कि वे सभी गड्ढे में गिर जाते हैं।

वास्तव में यही हो रहा है। भोलीभाली जनता का पथप्रदर्शन करने वाले अनेक नेता हैं, किन्तु उनमें से हर एकनेता देहात्मबुद्धि से मोहग्रस्त है, अतः मानव समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता का अभाव है। तरह-तरह के आसन दिखलाने वाले तथाकथित योगी भी इसी श्रेणी में आते हैं, क्योंकि हठयोग उन लोगों के लिए बनाया गया है, जो नितान्त देहात्मबुद्धि में पड़े हुए हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो देहात्मबुद्धि में स्थिर है उसे जन्म-मृत्यु भोगने होते हैं।

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।

आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असद्भिः—बुरों के साथ; पथि—मार्ग पर; पुनः—फिर से; शिश्न—लिंग के लिए; उदर—पेट के लिए; कृत—किया गया; उद्यमैः—जिसके प्रयास; आस्थितः—संगति करते हुए; रमते—भोग करता है; जन्तुः—जीव; तमः—अन्धकार; विशति—प्रवेश करता है; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

अतः यदि जीव विषय-भोग में लगे हुए ऐसे कामी पुरुषों से प्रभावित होकर, जो स्त्रीसंग-सुख व स्वाद की तुष्टि में ही रत हैं, असत् मार्ग का अनुसरण करता है, तो वह पहले की तरह पुनः नरक को जाता है।

तात्पर्य : यह बताया जा चुका है कि बद्धजीव को अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में डाला जाता है और वहाँ पर कष्ट उठाने के बाद उसे कुत्ता या शूकर का नारकीय शरीर प्राप्त होता है। ऐसे जन्मों के पश्चात् वह पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। कपिलदेव ने यह भी बताया है कि मनुष्य किस प्रकार जन्म लेता है। मनुष्य पहले माता के गर्भ में बढ़ता है, कष्ट पाता है और पुनः बाहर आता है। यदि इतने कष्टों के बाद उसे मनुष्य शरीर प्राप्त हो और यदि वह अपना अमूल्य समय ऐसे लोगों की संगति में नष्ट करे जिनका सम्बन्ध विषयी जीवन तथा चटपटे भोजन से ही हो तो सहज ही वह पुनः उन्हीं अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में जाता है।

सामान्यतः लोग अपनी जीभ का स्वाद तथा काम की तुष्टि चाहते हैं। यही भौतिक जीवन है। भौतिक जीवन का अर्थ है खाओ, पीओ और मौज करो; अपनी आध्यात्मिक पहचान तथा आध्यात्मिक उन्नति की किसी को परवाह नहीं रहती। चूँकि भौतिकतावादी लोग जीभ, पेट

तथा शिश्न से ही अपना सम्बन्ध रखते हैं, अतः यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे ऐसे लोगों की संगति से सावधान रहना चाहिए। ऐसे लोगों की संगति करने का अर्थ है मनुष्य-रूपी अपने जीवन की जानबूझकर हत्या करना। अतः यह कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अवांछित संगति का परित्याग करके साधु पुरुषों से ही सदा मिले-जुले। साधु पुरुषों की संगति में रहने से जीवन के आध्यात्मिक विस्तार सम्बन्धी सारे सन्देह उन्मूलित हो जाते हैं और वह आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर यथेष्ट प्रगति करता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि कुछ लोग विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वास के प्रति आसक्त होते हैं। हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई अपने-अपने धर्मों के प्रति श्रद्धावान होते हैं और वे मन्दिर-मस्जिद तथा गिरजाघरों में जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ऐसे लोगों की संगति नहीं छोड़ पाते जिनकी लत विषयी जीवन तथा स्वाद-तुष्टि के प्रति है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भले ही कोई कितना ही धार्मिक क्यों न हो, किन्तु यदि वह ऐसे व्यक्तियों की संगति करता है, तो वह गहनतम नरक को जाता है।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्हीर्यशः क्षमा ।

शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; शौचम्—स्वच्छता; दया—दया; मौनम्—गम्भीरता; बुद्धिः—बुद्धि; श्रीः—सम्पन्नता; हीः—लज्जा; यशः—ख्याति; क्षमा—क्षमा; शमः—मन का निग्रह; दमः—इन्द्रियों का निग्रह; भगः—सम्पत्ति; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्—सङ्गात्—जिसकी संगति से; याति सङ्क्षयम्—विनष्ट हो जाते हैं।

वह सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, आध्यात्मिक बुद्धि, लज्जा, संयम, यश, क्षमा, मन-निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, सौभाग्य और ऐसे ही अन्य सुअवसरों से विहीन हो जाता है। तात्पर्य : जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ चुकी है वे न तो परम सत्य का अभिप्राय समझ सकते हैं, न अपनी आदतें सुधार सकते हैं; अन्यो के प्रति दया दिखाना तो दूर रहा। वे गम्भीर नहीं रह पाते और जीवन के लक्ष्य के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं रहती। जीवन का चरम लक्ष्य कृष्ण या विष्णु है, किन्तु जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ी है वे यह नहीं समझ पाते कि उनका चरम हित कृष्णभावनामृत में है। ऐसे लोगों में शालीनता का अभाव रहता है और वे सरे

आम सड़कों या पार्कों में एक दूसरे का आलिंगन करते हैं मानो कुत्तों-बिल्ली हों और इसे वे प्रेमालाप कहते हैं। ऐसे अभागे प्राणी कभी सम्पन्न नहीं हो पाते। कुत्ते-बिल्लियों जैसा आचरण उन्हें कुत्ते-बिल्ली के पद पर ला देता है। वे अपनी भौतिक स्थिति को भी सुधार नहीं पाते, प्रसिद्ध होना तो दूर रहा। ऐसे मूर्ख कभी-कभी तथाकथित योग का दिखावा करते हैं, किन्तु योग का जो मुख्य उद्देश्य है—इन्द्रिय तथा मन को वश में करना—उसमें वे असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों को जीवन में ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वे अत्यन्त अभागे हैं।

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।

सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तेषु—उन; अशान्तेषु—अभद्र; मूढेषु—मूर्खों की; खण्डित-आत्मसु—आत्म-साक्षात्कार से रहित; असाधुषु—दुष्टों की; सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; शोच्येषु—शोचनीय; योषित्—स्त्रियों का; क्रीडा-मृगेषु—नाचने वाला कुत्ता; च—तथा।

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे अभद्र (अशान्त) मूर्ख की संगति न करे जो आत्म-साक्षात्कार के ज्ञान से रहित हो और स्त्री के हाथों का नाचने वाला कुत्ता बन कर रह गया हो।

तात्पर्य : ऐसे मूर्ख व्यक्तियों की संगति पर प्रतिबन्ध उन लोगों के लिए हैं, जो कृष्णभक्ति में प्रगति करना चाहते हैं। कृष्णभक्ति की दिशा में प्रगति करने के लिए सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, बुद्धि, सरलता, भौतिक ऐश्वर्य, यश, क्षमा तथा शम और दम आवश्यक हैं। कृष्णभक्ति की प्रगति के साथ ये सारे गुण प्रकट होने चाहिए, किन्तु यदि कोई किसी शूद्र या ऐसे मूर्ख व्यक्ति की संगति करे जो स्त्री के हाथों में नाचते कुत्ते की तरह हो तो वह प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य ने सलाह दी है कि कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्ति तथा भौतिक अविद्या को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को ऐसी स्त्रियों या पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए जो भौतिक सुखोपभोग में रुचि रखते हों। कृष्णभक्ति में प्रगति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ऐसी संगति आत्मघात से भी घातक है।

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह से; अस्य—इस मनुष्य का; भवेत्—हो सके; मोहः—मुग्धता, प्रेमान्धता; बन्धः—बन्धन;
च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से; योषित्-सङ्गात्—स्त्रियों के प्रति आसक्ति से;
यथा—जिस तरह; पुंसः—मनुष्य का; यथा—जिस तरह; तत्-सङ्गि—स्त्रियों के इच्छुक पुरुषों के; सङ्गतः—साथ
से।

अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से उत्पन्न मुग्धता तथा बन्धन उतने पूर्ण नहीं होते जितने कि किसी स्त्री के प्रति आसक्ति से या उन व्यक्तियों के साथ से जो स्त्रियों के कामी रहते हैं।

तात्पर्य : स्त्रियों के प्रति आसक्ति इतनी दूषित होती है कि मनुष्य न केवल स्त्री की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, अपितु इन स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने वाले पुरुषों की संगति से भी हो जाता है। हमारे बद्ध जीवन के अनेक कारण हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़ा कारण है स्त्रियों की संगति, जिसकी पुष्टि अगले श्लोकों में हुई है।

कलियुग में स्त्री-संग अत्यन्त प्रबल है। जीवन के पग-पग पर स्त्रियों से पाला पड़ता है। यदि किसी को कुछ खरीदना है, तो सारे विज्ञापन स्त्रियों के चित्रों से भरे रहते हैं। स्त्रियों के प्रति मनोवैज्ञानिक आकर्षण अत्यधिक होता है, अतः लोग आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यन्त लापरवाह हैं। चूँकि वैदिक सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित है, अतः स्त्रियों की संगति की व्यवस्था सतर्कतापूर्वक की गई है। चार सामाजिक विभागों (आश्रमों) में से प्रथम (ब्रह्मचर्य), तृतीय (वानप्रस्थ) तथा चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में स्त्री संगति नितान्त वर्जित है। केवल गृहस्थाश्रम में सीमित प्रतिबन्धों के अन्तर्गत स्त्रियों से मिलने-जुलने की छूट प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, स्त्री-संगति का आकर्षण ही बद्धजीवन का कारण है और जो भी इस बद्ध जीवन से मुक्त होना चाहता है उसे स्त्रियों की संगति से अपने को विलग कर लेना चाहिए।

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।

रोहिद्धूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पति: —ब्रह्माजी ने; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री को; दृष्ट्वा—देखकर; तत्-रूप—उसके लावण्य से;
 धर्षितः—मोहित; रोहित्-भूताम्—मृगी के रूप में; सः—वह; अन्वधावत्—दौड़ा; ऋक्ष-रूपी—मृग के रूप में;
 हत—विहीन; त्रपः—लज्जा।

ब्रह्मा अपनी पुत्री को देखकर उसके रूप पर मोहित हो गये और जब उसने मृगी का रूप धारण कर लिया तो वे मृग रूप में निर्लज्जतापूर्वक उसका पीछा करने लगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा का अपनी पुत्री के रूप पर मोहित होना तथा भगवान् के मोहिनी रूप पर शिवजी का मोहित होना—ये ज्वलन्त उदाहरण हमें शिक्षा देते हैं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक स्त्री की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते हैं, तो सामान्य बद्धजीव की क्या बिसात है ? अतः हर एक को सलाह दी जाती है कि वह अपनी सगी पुत्री, अपनी माता या अपनी बहन तक से मुक्त भाव से न मिले-जुले, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि मनुष्य प्रेमान्ध हो जाता है और इन्द्रियाँ पुत्री-माता या बहन का नाता नहीं देखतीं। अतः मदन-मोहन की सेवा में लगकर भक्तियोग के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करना सर्वोत्तम होगा। भगवान् कृष्ण का नाम मदनमोहन है, क्योंकि वे कामदेव या कामवासना को वश में कर सकते हैं। केवल मदनमोहन की सेवा करने से मदन के आदेशों पर अकुंश लगाया जा सकता है अन्यथा इन्द्रियों को वश में करने के सारे प्रयास विफल होंगे।

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।

ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तत्—ब्रह्मा द्वारा; सृष्ट-सृष्ट-सृष्टेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में से; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अखण्डित—विपथ न होने वाली; धीः—बुद्धि वाला; पुमान्—पुरुष; ऋषिम्—ऋषि; नारायणम्—नारायण; ऋते—के अतिरिक्त; योषित्-मय्या—स्त्री के रूप में; इह—यहाँ; मायया—माया के द्वारा।

ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवों—अर्थात् मनुष्य, देवता तथा पशु में से ऋषि नारायण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो स्त्री रूपी माया के आकर्षण के प्रति निश्चेष्ट हो।

तात्पर्य : आदि जीव स्वयं ब्रह्मा हैं जिनसे मरीचि जैसे ऋषि उत्पन्न हुए, मरीचि से कश्यप मुनि तथा अन्य और कश्यप मुनि तथा मनुओं ने विभिन्न देवताओं तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया। किन्तु इनमें से ऐसा कोई नहीं जो स्त्री रूपी माया के जादू से मोहित न होता हो। समग्र

संसार में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक—सभी विषयी जीवन के प्रति आकर्षित होते हैं। इस भौतिक जगत का यह मूल सिद्धान्त है। अपनी पुत्री द्वारा ब्रह्मा का मोहित होना ज्वलन्त उदाहरण है कि स्त्री के प्रति कामासक्ति से कोई भी नहीं बच पाता। अतः माया की सबसे आश्चर्यजनक सृष्टि स्त्री है, जो बद्धजीव को बन्धन में रखती है।

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।

या करोति पदाक्रान्तान्भूविजृम्भेण केवलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

बलम्—शक्ति; मे—मेरा; पश्य—देखो; मायायाः—माया का; स्त्री-मय्याः—स्त्री के रूप में; जयिनः—विजेता; दिशाम्—सभी दिशाओं का; या—जो; करोति—करती है; पद-आक्रान्तान्—उसके पीछे-पीछे; भूवि—उसकी भौंह की; जृम्भेण—गति से; केवलम्—केवल।

तनिक स्त्री रूपी मेरी माया की अपार शक्ति को समझने का प्रयत्न तो करो, जो मात्र अपनी भौहों की गति से संसार के बड़े से बड़े विजेताओं को भी अपनी मुट्ठी में रखती है।

तात्पर्य : विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जहाँ एक महान् विजेता किसी क्लेशोपात्रा के सौन्दर्य पर मुग्ध होता रहा है। मनुष्य को स्त्री की सम्मोहन शक्ति तथा उस शक्ति के प्रति मनुष्य के आकर्षण के अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। आखिर यह किस स्रोतसे उत्पन्न हुई? वेदान्त-सूत्र के अनुसार हम जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है। उसमें कहा गया है—जन्माद्यस्य यतः—जिसका अर्थ है कि भगवान् या परम पुरुष, ब्रह्म या परम सत्य ही वह स्रोत है जहाँ से प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है। आध्यात्मिक जगत में भी ऐसी स्त्री की सम्मोहक शक्ति तथा ऐसे आकर्षण के प्रति मनुष्य का शिकार होना भगवान् में अवश्य पाए जाते होंगे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रकट होते होंगे।

भगवान् परम पुरुष हैं अर्थात् परम नर हैं। जिस प्रकार सामान्य नर में मादा के प्रति आकृष्ट होने की चाह रहती है, वही उत्कटता भगवान् में भी पाई जाती है। वे भी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मुग्ध होते हैं। प्रश्न यह है कि यदि वे ऐसे स्त्री-आकर्षण द्वारा मुग्ध होते रहते हैं, तो क्या वे किसी भौतिक स्त्री द्वारा आकृष्ट होंगे? ऐसा सम्भव नहीं है। इस संसार के लोग भी स्त्री

आकर्षण का परित्याग कर सकते हैं यदि वे परब्रह्म द्वारा आकृष्ट हों। हरिदास ठाकुर के साथ ऐसा ही हुआ। एक सुन्दर वेश्या ने अर्धरात्रि में उन्हें आकर्षित करना चाहा, किन्तु वे भक्ति में, भगवान् के दिव्य प्रेम में स्थित थे, अतः उसके द्वारा मोहित नहीं हुए। उल्टे उन्होंने अपनी दिव्य संगति से उस वेश्या को महान् भक्त बना दिया। अतः भौतिक आकर्षण परमेश्वर को आकृष्ट नहीं कर सकता। जब वे किसी स्त्री द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो वे उस स्त्री को अपनी शक्ति से उत्पन्न करते हैं। वह स्त्री राधारानी है। गोस्वामियों ने बताया है कि राधा तो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति का प्रकट रूप हैं। जब भगवान् दिव्य आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से स्त्री उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्त्री-सौन्दर्य के प्रति आकर्षण सहज (प्राकृतिक) है, क्योंकि यह आध्यात्मिक जगत में पाया जाता है। भौतिक जगत में वह विकृत होकर प्रतिबिम्बित होता है इसीलिए अनेक उन्माद होते हैं।

यदि कोई भौतिक सौन्दर्य के द्वारा आकृष्ट न होकर राधारानी तथा कृष्ण के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होने का अभ्यास कर ले तो *भगवद्गीता* का यह कथन *परम् दृष्ट्वा निवर्तते*—सत्य सिद्ध होए। एक बार राधा तथा कृष्ण के दिव्य सौन्दर्य से आकर्षित हो जाने पर, फिर कोई भौतिक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता। राधाकृष्ण पूजा का यही विशेष महत्त्व है। इसकी पुष्टि यामुनाचार्य ने की है। उनका कथन है, “चूँकि मैं राधाकृष्ण के सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका हूँ, अतः जब भी किसी स्त्री के प्रति आकर्षण होता है या किसी स्त्री के साथ प्रसंग का स्मरण होता है, तो मैं उस पर थूकता हूँ और मेरा मुख घृणा से भर जाता है।” जब हम मदनमोहन तथा कृष्ण एवं उनकी प्रेमिकाओं के सौन्दर्य द्वारा आकर्षित होते हैं और हमारे बद्धजीवन की शृंखलाएँ अर्थात् स्त्री का सौन्दर्य हमें आकृष्ट नहीं करता।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; प्रमदासु—स्त्रियों की; जातु—कभी भी; योगस्य—योग की; पारम्—पराकाष्ठा; परम्—सर्वोच्च; आरुरुक्षुः—पहुँचने की इच्छा करने वाला; मत्—सेवया—मेरी सेवा करके; प्रतिलब्ध—प्राप्त; आत्म-लाभः—आत्म-साक्षात्कार; वदन्ति—कहते हैं; याः—जो स्त्रियाँ; निरय—नरक का; द्वारम्—द्वार; अस्य—आगे बढ़ने वाले भक्त का।

जो योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करना चाहता हो तथा जिसने मेरी सेवा करके आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो उसे चाहिए कि वह कभी किसी आकर्षक स्त्री की संगति न करे, क्योंकि शास्त्रों में घोषणा की गई है कि प्रगतिशील के लिए ऐसी स्त्री नरक के द्वार तुल्य है।

तात्पर्य : योग की पराकाष्ठा (इति) पूर्ण कृष्णभक्ति है। इसका समर्थन *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुआ है : जो व्यक्ति भक्ति में रहकर सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, वह समस्त योगियों में सर्वोच्च है। यही नहीं, *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी कहा गया है कि जब कोई भगवान् की सेवा करके भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान को समझ सकता है।

यहाँ पर *प्रतिलब्धात्मलाभः* शब्द आया है। *आत्म* का अर्थ 'स्व' या आत्मा है और *लाभ* का अर्थ 'उपलब्धि' है। सामान्यतः बद्धजीव अपनी आत्मा या स्व खो चुके हैं, किन्तु जो योगी हैं, वे आत्म का साक्षात्कार कर चुकते हैं। यहाँ आगाह किया गया है कि ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जो योग-सिद्धि की पराकाष्ठा तक पहुँचना चाहते हैं उन्हें युवा स्त्री की संगति नहीं करनी चाहिए। किन्तु वर्तमान युग में ऐसे अनेक धूर्त (पाखंडी) हैं, जो यह सलाह देते हैं कि जब तक काम-इन्द्रियाँ हैं तब तक मनुष्य जी भर कर स्त्री-भोग कर सकता है और साथ ही योगी बन सकता है। किसी भी मानक योगपद्धति में स्त्री-संगति स्वीकृत नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री-संगति नरक का द्वार है। वैदिक सभ्यता में स्त्री की संगति अत्यन्त सीमित होती है। चार आश्रमों में से तीन—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी—में स्त्री की संगति वर्जित है, केवल गृहस्थों को स्त्री से निकट सम्पर्क की छूट रहती है और यह सम्बन्ध अच्छी सन्तान उत्पन्न करने तक ही सीमित है। किन्तु यदि कोई इस भौतिक संसार में बने रहना चाहता है, तो उसे निर्बाध स्त्री-संगति करनी चाहिए।

योपयाति शनैर्माया योषिदेवविनिर्मिता ।

तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

या—जो; उपयाति—निकट आती है; शनैः—धीरे-धीरे; माया—माया स्वरूपा; योषित्—स्त्री; देव—भगवान् द्वारा; विनिर्मिता—उत्पन्न; ताम्—उसको; ईक्षेत—मानना चाहिए; आत्मनः—आत्मा की; मृत्युम्—मृत्यु; तृणैः—घास से; कूपम्—कुआँ; इव—सदृश; आवृतम्—ढका हुआ ।

भगवान् द्वारा उत्पन्न स्त्री माया स्वरूपा है और जो ऐसी माया की सेवाएँ स्वीकार करके उसकी संगति करता है उसे यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यह घास से ढके हुए अंधे कुएँ के समान उसकी मृत्यु का मार्ग है ।

तात्पर्य : कभी-कभी बेकार पड़े कुएँ को घास-फूस से ढक दिया जाता है, अतः यदि कोई यात्री अनजाने उस रास्ते से निकलता है, तो उस कुएँ में गिर जाता है और उसकी मृत्यु निश्चित होती है । इसी प्रकार जब कोई किसी स्त्री की सेवा ग्रहण कर लेता है, तो संगति प्रारम्भ होती है, क्योंकि भगवान् ने स्त्री को पुरुष की सेवा के लिए उत्पन्न किया है । उसकी सेवा स्वीकार करने से मनुष्य पाश में बँध जाता है । यदि वह इतना बुद्धिमान है कि स्त्री को नरक का द्वार समझता है, तो वह मुक्त होकर उसकी संगति कर सकता है । इसकी मनाही तो उसके लिए है, जो दिव्य पद तक उठने की महत्वाकांक्षा रखता है । पचास वर्ष पूर्व तक हिन्दू समाज में ऐसी संगति वर्जित थी । पत्नी अपने पति से दिन में नहीं मिल सकती थी । यहाँ तक कि गृहस्थों के अलग रिहायशी मकान होते थे । रिहायशी मकानों के अन्तःपुर स्त्रियों के निमित्त होते थे और बाहर के कमरे पुरुषों के लिए । स्त्री द्वारा की जाने वाली सेवा भले ही मोहक प्रतीत हो, किन्तु ऐसी सेवा ग्रहण करते समय मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री मृत्यु का द्वार है या कि आत्मविस्मृति है । वह आध्यात्मिक बोध के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है ।

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।

स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; मन्यते—वह सोचती है; पतिम्—अपना पति; मोहात्—मोहवश; मत्-मायाम्—मेरी माया; ऋषभ—पुरुष रूप में; आयतीम्—आती हुई; स्त्रीत्वम्—स्त्री बनने की दशा, स्त्रीत्व; स्त्री-सङ्गतः—किसी स्त्री की संगति से; प्राप्तः—प्राप्त; वित्त—सम्पत्ति; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; प्रदम्—प्रदान करने वाला ।

पूर्व जीवन में स्त्री-आसक्ति के कारण जीव स्त्री का रूप प्राप्त करता है मूर्खतावश माया को अपना पति मानकर उसे ही सम्पत्ति, सन्तान, घर तथा अन्य भौतिक साज-समान देने वाला समझता है ।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि स्त्री भी अपने पूर्वजन्म में पुरुष रहती है और अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण उसे स्त्री शरीर प्राप्त हुआ रहता है । *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है कि मरते समय मनुष्य जैसा सोचता है उसी के अनुसार उसे अगला जीवन प्राप्त होता है । यदि कोई अपनी स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, तो यह स्वाभाविक है कि मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी का चिन्तन करता है और अगले जन्म में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है । इसी प्रकार यदि कोई स्त्री अपनी मृत्यु के समय अपने पति का स्मरण करती है, तो उसे अगले जन्म में मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है । फलतः हिन्दू शास्त्रों में स्त्री के सतीत्व तथा मनुष्य के प्रति उसकी भक्ति पर अत्यधिक बल दिया जाता है । अपने पति के प्रति आसक्ति के फलस्वरूप ही स्त्री अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त कर सकती है, किन्तु स्त्री के प्रति अनुरक्ति से मनुष्य को नीचे गिरकर स्त्री का शरीर धारण करना होता है । जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर वस्त्र तुल्य हैं—वे जीवात्मा के कमीज तथा कोट की तरह हैं । स्त्री या पुरुष होना शारीरिक वस्त्र का भेद है । आत्मा वास्तव में परमेश्वर की तटस्था शक्ति है । प्रत्येक जीव शक्ति होने के कारण मूलतः स्त्री होता है अर्थात् भोग्य है । पुरुष शरीर में भवबन्धन से छूटने के लिए अधिक अवसर मिलते हैं, जबकि स्त्री शरीर में कम अवसर होते हैं । इस श्लोक में बताया गया है कि स्त्री के प्रति आसक्ति द्वारा मनुष्य शरीर का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा अगले जन्म में स्त्री शरीर धारण करना होगा । स्त्री सामान्यतः घर गृहस्थी, गहने, सामान तथा कपड़े की भूखी रहती है । जब उसका पति ये वस्तुएँ लाकर दे देता है, तो वह सन्तुष्ट हो जाती है । स्त्री तथा पुरुष का सम्बन्ध अत्यन्त जटिल है, किन्तु कहने का सार यह है

कि जो आत्म-साक्षात्कार के दिव्य पद तक उठना चाहता है उसे स्त्री की संगति करते समय सावधान रहना चाहिए। किन्तु कृष्णभक्ति की अवस्था में संगति पर ऐसा प्रतिबन्ध शिथिल हो सकता है, क्योंकि तब पुरुष तथा स्त्री की आसक्ति एक दूसरे के प्रति न होकर कृष्ण के प्रति होती है। तब वे दोनों समान रूप से भव-बन्धन से बाहर निकलने तथा कृष्ण के धाम जाने के पात्र बन जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, जो भी गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अंगीकार करता है—चाहे वह निम्नतम योनि का हो, स्त्री हो या कि अल्पज्ञ श्रेणी का श्रमिक या वणिक हो—वह भगवान् के धाम जाता है और कृष्णलोक पहुँचता है। पुरुष को न तो स्त्री के प्रति और न स्त्री को पुरुष के प्रति आसक्त होना चाहिए। दोनों को भगवान् की सेवा में अनुरक्त होना चाहिए। तभी दोनों इस भव-बन्धन से छूट सकते हैं।

तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।

दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ताम्—भगवान् की माया को; आत्मनः—अपना; विजानीयात्—जाने; पति—स्वामी; अपत्य—संतान; गृह—घर; आत्मकम्—से युक्त; दैव—भगवान् की कृपा से; उपसादितम्—लाई हुई; मृत्युम्—मृत्यु; मृगयोः—बहेलिया, शिकारी का; गायनम्—गाते हुए; यथा—जिस प्रकार।

अतएव स्त्री को अपने पति, घरबार और अपने बच्चों को उसकी मृत्यु के लिए भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था के रूप में मानना चाहिए। ठीक उसी तरह जैसे शिकारी की मधुर तान हिरन के लिए मृत्यु होती है।

तात्पर्य : कपिलदेव द्वारा दिये गये इन उपदेशों में यह बताया गया है कि न केवल स्त्री ही नरक का द्वार है, अपितु पुरुष भी स्त्री के लिए नरक का द्वार है। प्रश्न आसक्ति का है। मनुष्य स्त्री की सेवा, उसके सौन्दर्य तथा अन्य बातों से आसक्त होता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के प्रति इसलिए आसक्त होती है, क्योंकि वह उसे रहने के लिए स्थान, पहनने के लिए कपड़े तथा आभूषण और सन्तान देता है। यह तो एक दूसरे के प्रति आसक्ति का प्रश्न है। जब तक इनमें से कोई भी ऐसे भौतिक सुखों के लिए अनुरक्त रहेगा, तब तक पुरुष स्त्री के लिए और स्त्री पुरुष के लिए घातक है। किन्तु यदि यही आसक्ति कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाय तो दोनों

कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं और उनका संयोग उत्तम रहता है। अतः श्रीलरूप गोस्वामी की संस्तुति है :

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्वन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

(भक्तिरसामृतसिंधु १.२.२५५)

स्त्री तथा पुरुष को गृहस्थ के रूप में साथ-साथ रहते हुए कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि इस सेवा में बच्चे, पत्नी, पति सभी लग जाँय तो ये सारी शारीरिक या भौतिक व्याधियाँ समाप्त हो जाँय। चूँकि चेतना शुद्ध है और कृष्ण माध्यम हैं, अतः पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती।

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।

भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर के कारण; जीव-भूतेन—जीव द्वारा अधिकृत; लोकात्—एक लोक से; लोकम्—दूसरे लोक को; अनुव्रजन्—घूमते हुए; भुञ्जानः—भोग करते हुए; एव—इस प्रकार; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—करता है; अविरतम्—निरन्तर; पुमान्—जीव।

विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण भौतिकतावादी जीव अपने कर्मों के अनुसार एक लोक से दूसरे लोक में भटकता रहता है। इसी प्रकार वह अपने आपको सकाम कर्मों में लगा लेता है और निरन्तर फल का भोग करता है।

तात्पर्य : जब जीव शरीर के भीतर बन्दी रहता है, तो वह जीवभूत कहलाता है और जब वह शरीर से मुक्त रहता है, तो ब्रह्मभूत कहलाता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में शरीर बदलता हुआ जीव न केवल विभिन्न योनियों में घूमता रहता है, अपितु एक लोक से दूसरे लोक में भी जाता रहता है। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि सकाम कर्मों से बँधकर जीवात्माएँ सारे ब्रह्माण्ड में भटकती रहती हैं और यदि सौभाग्यवश या किसी पुण्य कर्म के कारण वे प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आती हैं, तो कृष्ण की कृपा से उन्हें भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि कोई जीव इस बीज को पाकर उसे अपने हृदय में बोता है और श्रवण तथा कीर्तन रूपी

जल से इसे सींचता है, तो यह बीज उगकर एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसमें जो फूल और फल लगते हैं उन्हें जीव इसी जगत में भी भोग सकता है। यह ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती है। इस उपाधियुक्त अवस्था में जीव भौतिकतावादी कहलाता है। किन्तु जब वह समस्त उपाधियों से मुक्त होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर सेवा में लगा रहता है, तो मुक्त कहलाता है। जब तक भगवान् की कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति नहीं प्राप्त होती तब तक विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र तथा विभिन्न प्रकार के लोकों में घूमने से छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।

तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

जीवः—जीव; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसका; अनुगः—उपयुक्त; देहः—शरीर; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; मयः—से निर्मित; तत्—शरीर का; निरोधः—विनाश; अस्य—जीव का; मरणम्—मृत्यु; आविर्भावः—प्राकट्य; तु—तब; सम्भवः—जन्म।

इस प्रकार सकाम कर्मों के अनुसार जीवात्मा को मन तथा इन्द्रियों से युक्त उपयुक्त शरीर प्राप्त होता है। जब किसी कर्म का फल चुक जाता है, तो इस अन्त को मृत्यु कहते हैं और जब कोई फल प्रारम्भ होता है, तो उस शुभारम्भ को जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : अनन्त काल से जीव विविध योनियों में तथा लोकों में निरन्तर घूमता रहा है। भगवद्गीता में इस प्रक्रम की व्याख्या हुई है। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया—माया के वश में होकर प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा प्रदत्त शरीर के रथ पर चढ़कर ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। भौतिकतावादी जीवन में कर्म तथा फल की शृंखला रहती है। यह कर्म तथा फल की एक लम्बी रील है और एक जीवन-अवधि एक दमक (फ्लैश) के तुल्य है। जब बच्चा जन्म लेता है, तो समझना चाहिए कि उसका शरीर सर्वथा नवीन कार्यकलापों का शुभारम्भ है और जब वृद्ध पुरुष मरता है, तो समझना चाहिए कि कर्मफल का अन्त हो गया।

हम देखते हैं कि विभिन्न कर्मफलों के कारण कोई सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है, तो कोई निर्धन परिवार में, यद्यपि दोनों एक ही स्थान में, एक समय और एक वातावरण में जन्म

लेते हैं। जो पुण्यकर्म करता है उसे समृद्ध या पुण्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है और जो पापकर्म करता है उसे निम्न निर्धन परिवार में जन्म लेने दिया जाता है। शरीर के परिवर्तन से कार्यक्षेत्र बदल जाता है। इसी प्रकार जब बालक का शरीर तरुण शरीर में बदलता है, तो बालकपन के कार्य युवावस्था के कार्यकलापों में बदल जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि विशेष प्रकार का कर्म करने से जीव को विशेष शरीर प्राप्त होता है। यह क्रिया अनन्त काल से चलती आ रही है। अतः वैष्णव कवि कहते हैं—*अनादि कर्मफले*— जिसका तात्पर्य यह है कि किसी के कर्मों तथा फलों का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वे ब्रह्मा के जन्म के कल्प से लेकर अगले कल्प तक चलते रहेंगे। हमने नारद मुनि के जीवन में इसको देखा। एक कल्प में वे दासी के पुत्र थे और दूसरे में वे ऋषि हो गये।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।

तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥ ४५ ॥

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।

तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—वस्तुओं की; उपलब्धि—अनुभूति का; स्थानस्य—स्थान का; द्रव्य—वस्तुओं की; ईक्षा—अनुभूति का; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तत्—वह; पञ्चत्वम्—मृत्यु; अहम्-मानात्—‘मैं’ की भ्रान्त धारणा से; उत्पत्तिः—जन्म; द्रव्य—शरीर; दर्शनम्—दर्शन; यथा—जिस प्रकार; अक्ष्णोः—आँखों का; द्रव्य—वस्तुओं का; अवयव—अंग; दर्शन—देखने की; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तदा—तब; एव—निस्सन्देह; चक्षुषः—देखने की इन्द्रिय से; द्रष्टुः—द्रष्टा का; द्रष्टृत्व—देखने की शक्ति का; अयोग्यता—अपात्रता; अनयोः—इन दोनों की।

जब दृष्टि-तंत्रिका के प्रभावित होने से आँखें रंग या रूप को देखने की शक्ति खो देती हैं, तो चक्षु-इन्द्रिय मृतप्राय हो जाती है। तब आँख तथा दृष्टि का द्रष्टा जीव अपनी देखने की शक्ति खो देता है। इसी प्रकार जब भौतिक शरीर, जो वस्तुओं की अनुभूति का स्थल है, अनुभव करना बन्द कर देता है, तो इस अयोग्यता को मृत्यु कहते हैं। जब मनुष्य शरीर को स्व मानने लगता है, तो इसे जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : जब कोई कहता है कि मैं देखता हूँ तो इसका अर्थ है कि वह अपनी आँखों से अथवा अपने चश्मे से देखता है। इस तरह वह दृष्टि के उपकरण से देखता है। यदि दृष्टि का

यह उपकरण टूट जाय, रुग्ण हो जाय या कार्य करने में अक्षम हो तो द्रष्टा के रूप में वह देखना बन्द कर देता है। इसी प्रकार इस शरीर में इस समय जीव कार्य कर रहा है, किन्तु जब कार्य करने में असमर्थता के कारण वह काम करना बन्द कर देता है, तो उसके कर्मफल भी बन्द हो जाते हैं। जब कार्य का उपकरण टूट जाय और कार्य न किया जा सके तो उसे मृत्यु कहते हैं। इसी प्रकार जब कार्य करने का नया उपकरण प्राप्त होता है, तो उसे जन्म कहते हैं। यह जन्म तथा मृत्यु की क्रिया शरीर में परिवर्तन के कारण प्रतिक्षण चलती रहती है। अन्तिम परिवर्तन मृत्यु कहलाता है और नये शरीर को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। जन्म तथा मृत्यु की समस्या का यही हल है। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। वह तो शाश्वत है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—यह जीवात्मा इस शरीर की मृत्यु या विनाश के बाद भी कभी नहीं मरता।

तस्मान्न कार्यः सन्नासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः ।

बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—मृत्यु के कारण; न—नहीं; कार्यः—करना चाहिए; सन्नासः—भय; न—नहीं; कार्पण्यम्—कंजूसी; न—नहीं; सम्भ्रमः—लाभ के लिए उत्सुकता; बुद्ध्वा—समझ करके; जीव-गतिम्—जीव के वास्तविक प्रकृति को; धीरः—स्थिर; मुक्त-सङ्गः—आसक्ति रहित; चरेत्—चलना चाहिए; इह—इस संसार में।

अतः मनुष्य को न तो मृत्यु को भयभीत होकर देखना चाहिए, न शरीर को आत्मा मानना चाहिए, न ही जीवन की आवश्यकताओं के शारीरिक भोग को बढ़ा-चढ़ा कर समझना चाहिए। जीव की असली प्रकृति को समझते हुए मनुष्य को आसक्ति से रहित तथा उद्देश्य में दृढ़ होकर संसार में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : जीवन तथा मृत्यु के दर्शन को समझने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति माता के गर्भ में या उसके बाहर के नारकीय जीवन की बात सुनकर विचलित हो उठेगा। किन्तु उसे जीवन की समस्याओं का हल निकालना होता है। समझदार व्यक्ति को इस शरीर की दयनीय स्थिति को समझना चाहिए और बिना विचलित हुए इसका निवारण खोजने का प्रयास करना चाहिए। यह इलाज तभी हाथ लगता है जब किसी मुक्त पुरुष की संगति मिलती है। किन्तु यह

समझना होगा कि मुक्त कौन है। *भगवद्गीता* में मुक्त पुरुष का वर्णन हुआ है—जो प्रकृति के कठोर नियमों को पार करके भगवान् की अखण्डित सेवा में लगा रहता है, वह ब्रह्म में स्थित माना जाता है।

भगवान् भौतिक सृष्टि से ऊपर हैं। यहाँ तक कि शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि नारायण इस सृष्टि के परे हैं। अतः जब कोई भगवान् के विविध रूपों—नारायण या राधाकृष्ण या सीताराम—की सेवा में संलग्न रहता है, तो उसे मुक्ति के पद पर माना जाता है। *भागवत* भी पुष्टि करता है कि मुक्ति का अर्थ स्वाभाविक पद पर स्थित होना है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत दास है, अतः जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा होता है, तो वह मोक्ष पद पर स्थित होता है। मनुष्य को चाहिए कि मुक्त पुरुष की संगति करे क्योंकि इससे जन्म तथा मृत्यु रूपी जीवन की समस्या हल हो सकती है।

पूरी तरह कृष्णभावना में भक्ति करते समय मनुष्य को कंजूसी नहीं बरतनी चाहिए। उसे यह व्यर्थ का दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने संसार से वैराग्य ग्रहण कर लिया है। वस्तुतः वैराग्य सम्भव नहीं है। यदि कोई अपना भव्य महल छोड़कर जंगल में चला जाता है, तो यह वैराग्य नहीं है, क्योंकि वह राजसी महल भगवान् की सम्पत्ति है तथा जंगल भी भगवान् की ही सम्पत्ति है। यदि कोई एक सम्पत्ति को छोड़कर दूसरे में चला जाए तो इसको वैराग्य नहीं कहते, क्योंकि वह इन दोनों में से किसी का भी स्वामी नहीं था। वैराग्य के लिए आवश्यक है कि प्रकृति पर प्रभुता जताने वाले झूठे बोध का परित्याग हो। जब वह इस झूठे बोध को तथा अपने इस विचार को कि वह भी ईश्वर है, त्याग देता है, तो वही असली वैराग्य है। अन्यथा वैराग्य कोई अर्थ नहीं रखता। रूप गोस्वामी का उपदेश है कि यदि कोई वस्तु भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने के उपयुक्त है, किन्तु उसका उपयोग इस कार्य के लिए नहीं किया जाता तो यह *फल्यु वैराग्य* कहलाता है, जिसका अर्थ है अपर्याप्त अथवा झूठा वैराग्य। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतः उसका उपयोग भगवान् के लिए करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति में हमें कुछ भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। यही वास्तविक वैराग्य है। किसी को

जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। भगवान् हमें जो कुछ प्रदान करें उसी से संतुष्ट होना चाहिए। हमें अपना समय कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति करने में लगाना चाहिए। जीवन तथा मृत्यु की समस्या का यही समाधान है।

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया ।

मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सम्यक्-दर्शनया—सही दृष्टि से; बुद्ध्या—तर्क से; योग—भक्ति से; वैराग्य—विरक्ति से; युक्तया—समन्वित, युक्त; माया-विरचिते—माया द्वारा व्यवस्थित; लोके—इस संसार में; चरेत्—चलना फिरना चाहिए; न्यस्य—गिरवी करके; कलेवरम्—शरीर को।

सही-सही दृष्टि से युक्त तथा भक्ति से पुष्ट होकर एवं भौतिक पहचान के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण से समन्वित होकर मनुष्य को तर्क द्वारा अपना शरीर इस मायामय संसार को गिरवी कर देनी चाहिए। इस तरह वह इस जगत् से अपना सम्बन्ध छुड़ा सकता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह भ्रम होता है कि भक्ति में लगे व्यक्तियों की संगति करने से आर्थिक समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को मुक्त पुरुषों की प्रत्यक्ष अथवा शरीर से संगति नहीं करनी होगी, अपितु दर्शन तथा तर्क से जीवन की समस्याओं को समझकर करना होगा। यहाँ पर *सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या* का उल्लेख है—मनुष्य को सम्यक् रूप से देखना होगा तथा बुद्धि एवं योगाभ्यास से इस संसार का परित्याग करना होगा। यह वैराग्य *भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में वर्णित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

भक्त की बुद्धि सदा भगवान् के सम्पर्क में रहती है। वह इस संसार के प्रति विरक्ति का भाव रखता है, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता रहता है कि यह संसार माया की सृष्टि है। भक्त अपने को परमात्मा का अंश मानकर अपनी भक्तिमय सेवा सम्पन्न करता है और भौतिक कर्म तथा कर्मफल से पृथक् रहता है। इस तरह अन्त में वह अपना शरीर या भौतिक शक्ति को त्याग देता है और शुद्ध आत्मा के रूप में वह ईश्वर के धाम में प्रवेश करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश” नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।